Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

L2

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फिनामिनालॉजी

लेखक

राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

जयपुर-4

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रथम-संस्करण : १९७४
Phenomenology

मूल्य : ६.५०

© सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन

प्रकाशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर-४

मुद्रक
अणिमा प्रिंटर्स,
पुलिस मेमोरियल,
जयपुर-४

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समर्पित

मेरे गुरुजनों को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रस्तावना

केन्द्रीय सरकार ने १९६९ में पाँच हिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी ग्रंथ अकादमियों की स्थापना की थी। इन अकादमियों का निर्माण स्वायत्तशासी संस्थाओं के रूप में हमारे विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए उच्च स्तर के ग्रंथ-निर्माण के निमित्त किया गया था। इस योजना के अंतर्गत स्थापित हमारी अकादमी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सतत प्रयत्नशील है।

इस योजना में शास्त्र और विज्ञान के सभी विषयों पर ग्रंथ-निर्माण करवाया जा रहा है। विशिष्ट विषयों पर मोनोग्राफ लिखवाए जा रहे हैं और व्यापकतर प्रसंगों पर बड़ी पुस्तकें तैयार करवाई जा रही हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में महाद्वीपीय यूरोप के एक महत्त्वपूर्ण दर्शन-सम्प्रदाय 'फिनोमिनलोजी' का आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत किया गया है। हमारे देश में यह दर्शन-सम्प्रदाय अभी तक उपेक्षित रहा है, इसलिए इस पर हिन्दी ही नहीं अंग्रेजी में भी, एकाध अपवाद को छोड़ कर, किसी भारतीय ने पुस्तक नहीं लिखी है। इसलिए हिन्दी में इस ग्रंथ का प्रकाशन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस पुस्तक के अतिरिक्त इस विषय पर एकमात्र उपलब्ध साहित्य "दर्शन-समीक्षा" में प्रकाशित कुछ लेख-सारांश हैं। डॉ० पाण्डे दर्शन के गंभीर दृष्टि-सम्पन्न विद्वान हैं और इस विषय पर लिखने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं। उन्होंने अकादमी के लिए लिखने-हेतु समय निकाला, इसके लिए हम उनके प्रति बहुत आभारी हैं।

प्रकाशन से पूर्व इस पुस्तक की पाण्डुलिपि प्रो० दयाकृष्ण ने पढ़ी और अपने परामर्श दिये। तदर्थ अकादमी उनके प्रति कृतज्ञ है। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक हिन्दी दार्शनिक वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण योगदान करेगी और दार्शनिक जगत् इसका समुचित स्वागत करेगा।

खेतसिंह राठौड़
शिक्षा मंत्री, राजस्थान सरकार एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर

यशदेव शल्य
कार्यवाहक निदेशक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शब्दावली विषयक एक निवेदन

इस पुस्तक में हमारे भाषा-संपादक ने कुछ पारिभाषिक शब्द बदले हैं। यहाँ दो शब्दों का उल्लेख आवश्यक है। लेखक ने 'बींग' के पर्याय रूप में 'भाव' शब्द का प्रयोग किया था, हमारे भाषा-संपादक ने अधिकांश स्थानों पर इसे 'सत्त्व' या 'सत्ता' शब्द से स्थानांतरित कर दिया है क्योंकि यही शब्द अधिक प्रचलित हैं, 'भाव' शब्द 'अभाव' के साथ प्रयुक्त होने पर यह अर्थ देता है। किन्तु कुछेक स्थानों पर, जहाँ प्रसंग इसके उपयुक्त था, 'भाव' शब्द ही रहने दिया गया है। इसी प्रकार लेखक ने अंग्रेज़ी के 'इंटेंशन' शब्द के लिए 'अभिप्राय' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु फिनामिनालॉजी संप्रदाय में इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं होकर 'विषयापेक्षा' के अर्थ में हुआ है, इसलिए 'अभिप्राय' के स्थान पर विषयापेक्षा कर दिया गया। किन्तु लेखक ने पृष्ठ ५६ पर 'अभिप्राय' शब्द को ही विवेचन का आधार बना लिया, इसलिए इस पृष्ठ से यथाप्रसंग 'अभिप्राय' शब्द का ही प्रयोग चलने दिया गया है। यद्यपि यह नितांत भ्रामक है। किन्तु इस शब्द के प्रतिपादन का ही आधार हो जाने से इसे बदला नहीं जा सकता था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राक्कथन

पश्चिम में दार्शनिक व वैज्ञानिक चिंतन के इतिहास को प्लेटो की उस उक्ति की कई संदर्भों वाली निरंतर विकासमान व्याख्या समझा जा सकता है जिसमें उसने 'प्रतिभासों के रक्षण' (सेविंग दि फिनॉमिना) की चर्चा की थी। यहां प्लेटो का संकेत हेराक्लिटस के एकांत क्षणिकवाद की ओर था जिसके अंतर्गत मनुष्य के ज्ञान की संभावना समाप्त हो जाती है—अथवा, जैसाकि क्रेटिलस ने कहा, हमारे बोलने के लिए भी कुछ नहीं बचा रह जाता, हम केवल उँगली उठा कर निर्देश भर कर सकते हैं। प्लेटो की दृष्टि में, इस असमंजसपूर्ण जटिल स्थिति से निकलने के लिए आवश्यक है कि हम प्रतिभासों को आनुभविक सापेक्षता से मुक्त कर उन्हें अनुभवातीत शुद्ध प्रत्ययों (रूपों=फोर्म्स) के क्षेत्र में स्थापित करें। यहां जिस 'आवश्यकता' की बात की गई है उसी के अधिकाधिक स्पष्टीकरण में पाश्चात्य दर्शन व विज्ञान में निहित मूल विचारधारा को समझने का रहस्य छिपा हुआ है।

फिनामिनालॉजिकीय दर्शन भी उपर्युक्त तरह का एक स्पष्टीकरण है, जिसमें समस्या की जड़ तक पहुँच कर उसके निराकरण की चेष्टा की गई है। हुस्सर्ल इस दर्शन का प्रथम प्रवर्त्तक है, क्योंकि उसी ने सर्वप्रथम उपर्युक्त समस्या को फिनामिनालॉजी का नया आयाम दिया और उसे दर्शन के समग्र क्षेत्र से एकीकृत माना। वैसे स्वतः "फिनामिनालॉजी" शब्द का प्रथम उल्लेख हम वुल्फ (Wolff) के अनुगामी हेनरी लेम्बर्ट की ज्ञान-मीमांसा में पाते हैं। हीगेल के एक समूचे ग्रंथ का ही नाम "फिनामिनालॉजी ऑफ स्पिरिट" है, जिसे उसने दार्शनिक चिंतन की पूर्णता का शिखर समझा। इस पर हुस्सर्ल की टिप्पणी थी : हीगेल का दर्शन कभी फिनामिनालॉजी रूप वाला रहा ही नहीं। वस्तुतः वह तो अपने कई मूल अंशों में कांट के क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन से मिलता-जुलता है, यद्यपि कांट ने कभी "फिनामिनालॉजी" शब्द का प्रयोग ही नहीं किया। हीगेल संभवतः उपर्युक्त शब्द का प्रयोग दो अर्थों में करता है : (अ) एक, वैज्ञानिक प्रविधि के लिए—जो कभी पूर्णतः स्पष्ट ही नहीं हुआ, और (ब) दूसरे,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्मनिष्ठ चैतन्य (स्पिरिट) के सिद्धांत के लिए। यह बाद वाला अर्थ ही हीगेल के ग्रंथों में पर्याप्ततः विवेचित हुआ है, जबकि जिस निश्चित दार्शनिक प्रविधि—द्वंद्वात्मक विधि (डायलेक्टिकल मैथड)—की चर्चा हीगेल ने की है उसका कोई फिनामिना-लॉजिकीय औचित्य नहीं है।

एड्वर्ड फॉन हार्टमॅन ने भी "फिनामिनालॉजी" शब्द का प्रयोग किया। उसका सम्बन्ध नैतिक, भावनात्मक व धार्मिक चेतना से था और विधि के रूप में वह आनु-भविक या आगमनात्मक रहा।

अब, जब हम एक समग्र दर्शन के रूप में 'फिनामिनालॉजी' पर दृष्टि डालते हैं तब यह तुरत स्पष्ट हो जाता है कि वह एक विधि—अपचयन, अतर्ज्ञान, अलिप्तता के प्राविधिक प्रयोग के रूप में सर्वथा नवीन है, यद्यपि जिस विषय-वस्तु की चर्चा उसमें होती है वह दर्शन की ही तरह पुरातन है। यही कारण है कि इस दार्शनिक चिंतन का आद्य-प्रवर्त्तक हुस्सर्ल समूचे फिनामिनालॉजी-सम्प्रदाय में सर्व-प्रमुख स्थान रखता है: उसने न केवल उक्त फिनामिनालॉजिकीय विधि की रूपरेखा स्पष्ट की, वरन् उसकी सर्वाधिक विस्तृत और गहन विवेचना भी उसीकी की है। अतः आश्चर्य नहीं कि वह इस प्राविधिक पक्ष की प्रमुखता के कारण ज्ञान-मीमांसा को ही फिना-मिनालॉजी का सर्वाधिक प्रमुख विषय मान लेता है। एक और मुख्य कारण जो हुस्सर्ल को ज्ञान-मीमांसा की सर्वोपरि महत्ता की ओर आकृष्ट करता है वह है मानव-चेतना का विषयापेक्षा का सिद्धांत। अवश्य यह सिद्धांत हुस्सर्ल के पहले भी दार्शनिकों को मान्य रहा, किंतु उन्होंने उसे 'वस्तून्मुखी चेतना' का सिद्धांत समझा। दूसरी ओर, हुस्सर्ल उपर्युक्त 'विषयापेक्षी चेतना' का एक अत्यंत नवीन और रोचक सिद्धांत प्रतिपादित करता है: उसके अनुसार चेतना की संरचना के ही दो अंश इस प्रकार हैं कि, एक क्रिया-रूप से दूसरे विषय-रूप के 'प्रति' चेतन होता है। इसी में चेतना की अनिवार्य आपेक्षिकता, बौद्धिकता और आनुभविक तत्त्व समाया हुआ है। हुस्सर्ल के बाद फिनामिनालॉजकीय चिंतक—जैसे शिलर, हाइडेगर, सार्त्रे, पॉन्ती—उसकी इस मान्यता को किन्हीं महत्वपूर्ण अंशों में बदलते ज़रूर हैं, किंतु प्रकारान्तर से वह मान्यता अपने मूल में वहाँ भी बनी रहती है। इन फिनामिनालॉजिकीय चिंतकों—विशेषकर हाइडेगर और सार्त्रे—में अवश्य ऐसा प्रतीत होता है मानों वे हुस्सर्ल की मूल मान्यता को आमूल-चूल परिवर्त्तित कर रहे हों। किंतु वस्तुतः ऐसा हुआ नहीं है: ज्ञानमीमांसा के बदले सत्तामीमांसा (ओंटोलोजी) की प्रतिष्ठा वे अवश्य करते हैं, किंतु उनका यह प्रयास हुस्सर्ल की शुद्ध मानवचेतना को अनिवार्यतः 'व्यक्ति-केंद्रित' करने का ही अवश्यभावी परिणाम है। यही कारण इस तथ्य की जड़

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राक्कथन

में भी है कि वे हुस्सर्ल की फिनामिनालॉजिकीय दार्शनिक विधि का पूरा प्रयोग कर पाने में अपने को असफल पाते हैं। तथापि बाद के इन फिनामिनालॉजिकीय चिंतकों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह अवश्य है कि उन्होंने दर्शन को सामाजिक-ऐतिहासिक मनुष्य से अनिवार्यरूपेण मुक्त कर दिया है, जो स्वत: हुस्सर्ल द्वारा दर्शन को समस्त मानव-सैद्धांतिकता से जोड़ने की उपलब्धि से किसी तरह कम नहीं है।

इस तरह हम देखते हैं कि समग्र फिनामिनालॉजिकीय चिंतन में हुस्सर्ल का स्थान केंद्रस्थ है। अत: स्वाभाविक है कि प्रस्तुत ग्रंथ में मैंने हुस्सर्ल के विचारों की चर्चा ही विस्तार से की है। अंतिम अध्याय में अवश्य शिलर, हाइडेगर, सार्त्र और पॉन्ती के विचारों की चर्चा की गई है जिससे हुस्सर्ल के बाद फिनामिनालॉजिकीय चिंतन के नये आयामों से हमारा परिचय हो सके।

इस पुस्तक के लेखन में मैंने हुस्सर्ल के प्रमुख ग्रंथ **आइडियाज** (Ideas) व **कार्तेशियन मेडीटेशन्स**, (Cartesion Meditations), हाइडेगर के **बींग एंड टाइम** (Being and Time), सार्त्र के **बींग एंड नथिंगनेस** (Being and Nothingness) मार्लो-पॉन्ती के **फिनामिनालॉजी ऑफ पर्सेप्सन** (Phenomenology of Perception) के अलावा फिनामिनालॉजिकीय चिंतन पर लिखे गए इन ग्रंथों की भी सहायता ली है : हर्बर्ट स्पीगेलबर्ग का **दि फिनामिनालॉजिकल मूवमेंट** (The Phenomenological Movement, Vol. I & II), मार्विन फार्बर का **दि फाउंडेशन ऑफ फिनामिनालॉजी** (The Foundation of Phenomenology), और क्वेंटिन लॉवेर का **फिनामिनालॉजी : इट्स जेनेसिस एंड प्रास्पेक्ट** (Phenomenology : Its Genesis and Prospect)। इन सभी लेखकों का मैं ऋणी हूँ।

और अंत में, जिस व्यक्ति ने मुझे प्रस्तुत ग्रंथ के सारे लेखन-काल में बेझिझक मदद दी उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरा कर्तव्य है। वह व्यक्ति स्वयं मेरी पत्नी ज्योत्स्ना पांडेय हैं जिन्होंने मेरी कई अभिव्यक्तिमूलक समस्याओं के हल में मदद की।

शांतिनिकेतन
२५–७–७३

राजेन्द्र पांडेय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषयसूची

प्राक्कथन

१. फिनामिनालॉजी का अभ्युदय १–१७

समकालीन दार्शनिक-चिंतन की स्थिति (२), पाश्चात्य बौद्धिकता की आपत्स्थिति (३), बुद्धिवाद की मीमांसा (६), पारंपरिक दर्शन की समीक्षा (६), प्रकृतिवाद की आलोचना (११), मनोविज्ञानवाद की आलोचना (१४), इतिहासवाद और विश्वदृष्टिवाद की समीक्षा (१६)।

२. तत्त्व-विज्ञान और फिनामिनालॉजिकीय विधि १८–५१

तथ्य और तत्त्व, (१६), तथ्य-विज्ञान व तात्त्विक विज्ञान (२१), तत्व-ज्ञान का रूप (२२), दर्शन का वैज्ञानिक रूप (२५), दार्शनिक विधि की आवश्यकता (२७), अलिप्तता की विधि (२६), अपचय-विधि (३०), तात्त्विक अंतर्बोध (३३)।

३. संज्ञान और वस्तुनिष्ठता का प्रश्न ३५–५१

मैं और मेरा परिवेश-जगत् (३६), मेरा प्रत्ययमूलक परिवेश-जगत् और आत्म-प्रस्तुति (३८), प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य की सामान्य धारणा का स्थगन (४१), संज्ञान-क्रिया : बहिर्प्रत्यक्ष का रूप (४२), अनुभव और उसका प्रदत्त (४४), वस्तुनिष्ठता का प्रश्न (४६), अर्थ का अर्थ (४८)।

४. शुद्ध चेतना का स्वरूप और उसकी संरचना ५२–६६

अनुभव-प्रवाह और अहं-चेतना (५३), चेतना की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभिप्रायात्मकता (५६), शुद्ध अहं का स्वरूप (५९), चेतना की कालिकता (६४), अभिप्रायात्मक अधि-ग्रहण : अर्थक्रिया और वस्त्वर्थ (६६)।

५. बौद्धिक-विधान और प्रामाणिकता ७०–८५

बुद्धि और अनुभव (७१), बौद्धिक-विधान और उसकी अनिवार्यता (७४), बौद्धिक-विधान की प्रक्रिया (७५), स्वप्रदत्तता और स्वतःप्रामाण्य (७९), 'सत्य' की अभि-धारणा (८२)।

६. कुछ अन्य फिनामिनालॉजिकीय चिंतक ८६–१०३

मेक्स शिलर (८६), मार्टिन हाइडेगर (८९), ज्याँ पॉल सार्त्र (९४), मॅर्लो-पॉन्ती (९९)।

७. पारिभाषिक शब्दावली १०४–१०६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

"हज़ारों रास्ते ऐसे हैं जिन पर हम कभी चले नहीं; जीवन के हज़ारों स्वास्थ्यप्रद और गुप्त द्वीप हैं। मनुष्य और मनुष्य-का-जगत् अभी भी अक्षय और अनन्वेषित हैं।"

नीट्शे : दस् स्पेक ज़रथुस्त्र, I.22.2

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१

फिनामिनालॉजी का अभ्युदय

प्रत्येक प्रबुद्ध मानव-समाज के जीवन में वे महत्त्वपूर्ण क्षण आते हैं जब वह अपने किन्हीं आत्म-चेतन चिंतकों के सहारे अपनी ऐतिहासिक नियति, वर्तमान उपलब्धियों व समस्याओं तथा भविष्यपरक आकांक्षाओं को परस्पर संतुलित कर अपना मूल स्वरूप अपने समक्ष स्पष्ट करना चाहता है। इस अत्यन्त जटिल आयामों वाली क्रियाशीलता के लिए जिन चिंतकों की अपेक्षा होती है वे निस्संदेह असाधारण प्रतिभासम्पन्न होते हैं—न केवल इसलिए कि उनकी अन्वेषक बुद्धि व संश्लेषक विश्लेषक-वृत्ति आश्चर्यजनक रूप से मौलिक होती है, वरन् इसलिए भी कि वे पूरे समाज की बौद्धिक चेतना में नितांत नये मूल्यों व कांक्ष्यों की सृष्टि करने में सफल होते हैं। वे 'परम्परागत' के विरुद्ध एक अभिनव वैचारिक आंदोलन खड़ा करते हैं और बौद्धिकता के क्षेत्र में दिशा-दर्शक स्तम्भ की तरह समाज के लक्ष्य का निर्धारण करते हैं।

पाश्चात्य जन-समाज की बौद्धिकता के प्रवाह के समकालीन मोड़ पर हम फिनामिनालॉजिकीय दर्शन को इसी प्रकार के एक वैचारिक आंदोलन के रूप में खड़ा पाते हैं। यह दर्शन बौद्धिकता और सत्य के क्षेत्र में नूतन गवेषणाओं के अन्तर्गत अभूतपूर्व स्थापनाओं व निष्कर्षों तक पहुँचता है। किन्तु इस आधार पर उसे एक 'दार्शनिक संप्रदाय' समझ लेने की गलती हमें नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जैसाकि इस दर्शन के प्रवर्त्तक दार्शनिक हुस्सर्ल ने कहा, एक वैचारिक आंदोलन के रूप में फिनामिनालॉजी एक सतत सत्यान्वेषण है जो अनंत काल तक सक्रिय रह सकता है, क्योंकि मनुष्य के लिए सत्य विविध व अनंत है। इसी अर्थ में फिनामिनालॉजी को 'अनुसन्धान' (रिसर्च) कहा गया है, जिसमें एकाधिक चिंतक एक-समान आदर्श से अनुप्राणित होकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी सत्यान्वेषण में लगे रहते हैं। निस्संदेह उनका अपना-अपना ढंग होता है, किंतु उनके बीच परस्पर वैचारिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आदान-प्रदान की शृंखला भी बनी रहती है। यह आवश्यक नहीं कि वे एक ही निष्कर्ष तक पहुँचें, यद्यपि उनकी विधि व लक्ष्य एक होते हैं।

(क) समकालीन दार्शनिक-चिंतन की स्थिति

अवश्य यह समझ लेना भूल होगी कि समकालीन पाश्चात्य दर्शन के अन्तर्गत केवल फिनामिनालॉजी ही एकमात्र वैचारिक आंदोलन है। वस्तुस्थिति यह है कि सभी समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक विचार-धाराएँ एक वैचारिक आंदोलन होने का दावा करती हैं। अतः यह आवश्यक है कि फिनामिनालॉजी और अन्य समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक विचार-धाराओं के बीच का आवश्यक अन्तर हमें स्पष्ट हो।

मोटे तौर पर समकालीन पाश्चात्य दर्शन की प्रमुख विचार-धाराओं को दो वर्गों में बांटा जा सकता है: एक वे जो आधुनिक प्रकृति-विज्ञानों को मानव-ज्ञान का एकमात्र सही रूप प्रदर्शित करने वाला मानते हुए दार्शनिक-चिंतन का कार्य केवल तार्किक विश्लेषण व स्पष्टीकरण मानती हैं और दूसरी वे विचार-धाराएँ जो प्रकृति-विज्ञानों को मानव-प्रतिमा तथा बुद्धि को लक्ष्य-भ्रष्ट करने वाला मानती हैं और इसलिए दार्शनिक-चिंतन को यह सर्वोपरि दायित्व प्रदान करने के पक्ष में हैं कि वह मानव-प्रतिमा व बुद्धि की सही व सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करे। प्रथम प्रकार की दार्शनिक विचार-धाराएँ, जैसे तार्किक अनुभववाद व विश्लेषणवाद, एक तरह से प्रकृति-विज्ञान के सामान्य दृष्टिकोण की ही तार्किक परिणतियाँ हैं जबकि द्वितीय प्रकार की दार्शनिक विचार-धाराएँ जिनमें मुख्यतः फिनामिनालॉजी व अस्तित्ववाद आते हैं, प्रकृति-विज्ञान के सामान्य दृष्टिकोण को आधारभूत मानने से इन्कार करते हुए उससे अधिक आधारभूत व प्रामाणिक दृष्टिकोण की स्थापना एक सार्वभौम स्वयंसिद्ध मान्यता के रूप में करती हैं।

अब स्पष्ट है कि प्रकृति-विज्ञान के दृष्टिकोण से प्रभावित दार्शनिक विचार-धाराओं की आंदोलनात्मक दृष्टि का विस्तार वर्तमान से लेकर भविष्य तक ही होगा जबकि भूतकालीन बौद्धिक विकास उसके लिए प्रायः अविकसित और इसलिए अपेक्षया अंधकार का द्योतक होगा, जिसके संदर्भ में मनुष्य को जिज्ञासा तो अवश्य हो सकती है किंतु जो वास्तविक ज्ञान प्रदान कर सकने में असमर्थ है। इसके विपरीत, फिनामिनालॉजी व अस्तित्ववाद का वैचारिक अभियान मनुष्य की समग्र कालचेतना—भूत-भविष्य-वर्तमान—में समान रूप से गति करने वाला है, क्योंकि इस अभियान का मुख्य लक्ष्य ही मनुष्य की अनिवार्य कालिकता में उसके उस आद्य-रूप को प्रकट करना है जो सदैव व सर्वत्र समान है। वह विकासवाद और आधुनिकतावाद की इस मान्यता का पोषक नहीं है कि अब तक मनुष्य ने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तरोत्तर प्रगति की है—यदि 'प्रगति' से अर्थ मानव-कांक्ष्य की वास्तविक ग्राह्यता और उस संदर्भ में मानव-ज्ञान के निरन्तर विकास से है। इस आंदोलन की एक मुख्य मान्यता ही यह है कि आधुनिक मनुष्य एक बौद्धिक भ्रम का शिकार हुआ है, जिसके फलस्वरूप न तो उसे अपना कांक्ष्य स्पष्ट हो पाया है और न ही उसे ज्ञान की सही दिशा मिल पाई है। अतः यह धारणा कि अब तक मनुष्य ने निरंतर प्रगति की है, बिल्कुल बेमानी है : यह धारणा मनुष्य के आद्य-स्वरूप की समझ पर आधारित नहीं है—और केवल इसी समझ के आधार से मानव-कांक्ष्य की वास्तविक ग्राह्यता या ज्ञान को समझा जा सकता है। अतएव आज आवश्यक यह है कि मनुष्य को उसके जीवंत अनुभव-जगत् के परिप्रेक्ष्य में रखकर तथा तत्संदर्भ में समस्त पूर्वाग्रहों व अमूर्त निर्वैयक्तिकता से मुक्त होकर, उसके मौलिक आद्य-रूप में समझा जाय : जब इस विधा में मानव-स्थिति का निश्चयन कर सकने में हम सफल होंगे तभी मनुष्य की सतत बौद्धिकता में निहित कांक्ष्य व उसकी वास्तविक ग्राह्यता रूप ज्ञान की हमारी अभिलाषा किसी तरह संतुष्ट हो सकेगी—यद्यपि इस तरह नहीं कि तब उसका बौद्धिक चिंतन अपनी उद्देश्य-पूर्ति की दृष्टि से सदा के लिए संतुष्ट हो जायगा वरन् इस तरह कि वह मनुष्य की स्वयंभू कांक्ष्य-स्थिति को प्रकट करने वाली शून्य अपेक्षात्मकता, जो मानव बौद्धिकता का शुद्ध आद्य-रूप है, के परिपूरण का सही मानदण्ड प्रस्तुत करेगा। इस तरह दार्शनिक चिंतन उपर्युक्त बौद्धिकता की शुद्ध सक्रियता के रूप में केवल एक ऐसी विधि होगा जो निरंतर सत्य को उद्घाटित करेगा और उसकी प्रामाणिकता स्थिर करेगा।

द्रष्टव्य है कि दार्शनिक-चिंतन के सम्बन्ध में धारणा का यह सामान्य रूप, कि वह मूलतः एक विधि है, समकालीन तार्किक अनुभववाद व विश्लेषणवाद को भी मान्य है। किंतु जबकि फिनामिनालॉजी इस विधि के केन्द्र में स्वतः मनुष्य की आत्म-चेतना को प्रतिष्ठित मानती है, वहाँ तार्किक अनुभववाद व विश्लेषणवाद में चेतना के लिए कोई जगह नहीं है। यही कारण है कि जहाँ एक ओर फिनामिना-लॉजी के अनुसार दार्शनिक चिंतन मौलिक व आधारभूत सत्यों का उद्घाटन करने में समर्थ है और इसलिए अपने परिपक्व रूप में एक शुद्ध व आधारभूत विज्ञान के रूप में सामने आता है, वहाँ दूसरी ओर तार्किक अनुभववाद व विश्लेषणवाद की दृष्टि में दार्शनिक चिंतन मूलतः एक गौण व अनुत्पादक क्रिया है जिससे कोई नया सत्य उद्घाटित नहीं हो सकता।

(ख) पाश्चात्य बौद्धिकता की आपत्स्थिति

फिनामिनालॉजिकीय दृष्टिकोण से दार्शनिक चिंतन के संबंध में उक्त अनुभववादी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व विश्लेषणवादी मत को, जो वस्तुतः दर्शन में प्रकृतिवादी दृष्टिकोण ही है, उसी बौद्धिक आपत्स्थिति का शिकार हुआ माना जा सकता है जो समस्त पारम्परिक पाश्चात्य बौद्धिकता के लक्षण के रूप में आज प्रकट है। हुस्सर्ल के अनुसार, सारे परंपरागत चिंतन में, जिसमें दार्शनिक चिंतन समाहित है, 'वस्तु-स्थिति' को देखने-समझने का ढंग प्राक्कल्पनाओं, पूर्वाग्रहों व अंध-विश्वासों से इतना अधिक प्रभावित हो चुका है कि उसका सही रूप में दिख पाना प्रायः असंभव है। सत्य पर भ्रम और अज्ञान का एक गहरा धुंध छाया हुआ है। अतः 'ज्ञान' के लिए आवश्यक है कि हम इस धुंध के नीचे उतर कर 'वस्तु-स्थिति' को उसके अपने रूप में ग्रहण करें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो उस संदर्भ में हमारे 'ज्ञान' का कोई अर्थ नहीं रहेगा।

हुस्सर्ल से भी एक कदम और आगे बढ़कर एक अन्य फिनामिनालॉजिकीय दार्शनिक हाइडेगर कहता है कि वर्तमान बीसवीं सदी सभी सदियों से अधिक अंधकारपूर्ण है। उसके अनुसार इस सदी की दो विशेषताएं हैं : (i) कल्पनाप्रधान पराभौतिकी (मेटाफिज़िक्स) का ह्रास—जिससे बड़े-बड़े दार्शनिक संप्रदाय धराशायी हुए दीखते हैं और फलस्वरूप दर्शन के क्षेत्र में एक विचित्र शून्य उत्पन्न हुआ दीख पड़ता है; (ii) प्राकृतिक विज्ञानों व इतिहासमूलक विज्ञानों द्वारा दार्शनिक-चिंतन को अपनी परिधि में समेटने की कोशिश—जिससे कई अपरिपक्व दार्शनिक संप्रदायों का जन्म हुआ है (यथा स्पेंसर, लोट्से आदि के सिद्धांत); और (iii) अनुभववाद का ऐकांतिक विकास तथा मनोविज्ञान की प्रमुखता—जिससे हम सही दार्शनिक चिंतन की संभावना-मात्र के प्रति चेतन रह सकने में अपने-आप को असमर्थ पाते हैं।

संक्षेप में, वस्तु-स्थिति की वास्तविकता बुद्धि की ऐतिहासिक पथ-भ्रष्टता से पूरी तरह ढँक चुकी है। परिणामतः आज दर्शन का एक सर्व-प्रमुख कार्य इस भ्रामक स्थिति को ठीक-ठीक समझना है—अतः आश्चर्य नहीं कि सभी फिनामिनालॉजिकीय चिंतकों को हम इस दिशा में सक्रिय पाते हैं। अपनी अन्तिम प्रमुख रचना 'दि क्राइसिस' (दि क्राइसिस आफ यूरोपियन साइन्स एण्ड दि ट्रॉन्सेन्डेन्टल फिनामिनालॉजी) में हुस्सर्ल कहता है कि वर्तमान पाश्चात्य बौद्धिकता में प्रकट हुई आपत्स्तिथि को ठीक-ठीक समझने के लिए आवश्यक है कि प्राचीन ग्रीक बुद्धि में निहित उस आध्यात्मिक भाव्योन्मुखता (स्पिरिचुअल टेलॉस) को समझा जाय जो कालक्रम से आज केवल विकृत रूप में उपलब्ध है।

उपर्युक्त आध्यात्मिक भाव्योन्मुखी बुद्धि से प्रेरित मनुष्य अपने परिवेशमय जगत्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के प्रति वह नया दृष्टिकोण विकसित करता है जिसे उसके व्यवस्थित संरचनात्मक व सांस्कृतिक रूप में ग्रीक चिंतकों ने 'फिलॉसफी' कहा। यह वही मूल विज्ञान है जिसकी सीमाएं अनिर्धार्य हैं और विषय-वस्तु सभी कुछ; और इसीलिए वह अपने स्वरूप में तथ्यमूलक न होकर आदर्शमूलक या कांक्ष्य-रूप है। वह मानव-कांक्ष्य के संदर्भ से समग्र विश्व या समग्र भावों की एकात्मकता का विज्ञान है। सार्वभौमिकता के लक्षण वाला यही विज्ञान वाद में विभिन्न विशिष्ट विज्ञानों में बँटता है, यद्यपि इससे उन्हें एकात्मकता प्रदान करने वाले मूल विज्ञान 'दर्शन' (फिलॉसफी) का तिरोभाव नहीं हो जाता। इस रूप में 'दर्शन' का अभ्युदय ही हुस्सर्ल के अनुसार पाश्चात्य मनस् या बौद्धिकता का मौलिक प्रकाश या प्रतिभास (फिनॉमिनान्) है।

अवश्य हुस्सर्ल ने यह स्वीकार किया है कि प्राचीन ग्रीकों की ही तरह प्राचीन भारतीयों व चीनियों में भी हम एक सार्वभौम दार्शनिक दृष्टि का अभ्युदय देखते हैं। किंतु उनके बीच मूलभूत अन्तर यह है कि केवल प्राचीन ग्रीकों की दार्शनिक दृष्टि में ही हमें वह सार्वभौम भाव्यता मिलती है जो विशुद्धत: 'सैद्धांतिक' है: एरिस्टॉटल के शब्दों में, दार्शनिक ज्ञान का लक्ष्य दर्शन स्वयं है। हुस्सर्ल के मत के स्पष्टीकरण में संभवत: हम यह जोड़ सकते हैं: प्राचीन भारतीय व चीनी दार्शनिक दृष्टि की सार्वभौम भाव्योन्मुखता में मनुष्य की 'कर्त्तव्य-नियामकता' (धर्म) का पक्ष अधिक उजागर हुआ है जबकि ग्रीक 'सिद्धांतपरता' का आधार मानव-चेतना* (स्पिरिट) को ही सत्य के मानदण्ड के रूप में स्थिर उद्देश्यात्मक मानना है। भारतीय-चीनी चिंतन सत्य को स्वयं-प्रकाशित मानते हुए उसे उसका अपना मानदण्ड मानते हैं और केवल उसी रूप में मानव-चेतना द्वारा ग्राह्य समझते हैं। यह मानव-ग्राह्यता और उस संदर्भ में की जाने वाली क्रिया ही शुद्ध मानव-उद्देश्य-परता का आधार है, और मनुष्य की विशिष्टता, अन्य प्राणियों की तुलना में, यही है कि वह अपनी क्रियाशीलता व ग्रहणशीलता को उक्त ढंग से स्वयं-प्रकाशित सत्य से जोड़ सकता है। इस दृष्टि से, मानव-चेतना की विशिष्टता 'ज्ञान' के लिए ज्ञान रूप सैद्धांतिकता में न होकर इस आद्य तथ्य में है कि मनुष्य अपनी चेतना व क्रिया का नियमन सत्योन्मुखता के लिए कर सकता है। दूसरे शब्दों में, केवल मनुष्य ही 'धर्मदृष्टि' रख सकने में सक्षम है। अस्तु।

वस्तु-स्थिति जो हो, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि, जैसाकि हुस्सर्ल ने कहा, प्राचीन ग्रीकों की बौद्धिकता का प्रकाश उक्त 'सैद्धांतिक' दृष्टिकोण में हुआ है और यह दृष्टिकोण पाश्चात्य मनुष्य के समस्त मानसिक विकास को प्रभावित

---

* लेखक—मन-प्राण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करता चला आया है। इससे व्यक्ति प्रभावित हुए हैं और समाज भी। समाज के आत्म-चेतन सदस्य एक-समान सम्मिलित सक्रियता में बँध कर पीढ़ी-दर-पीढ़ी सैद्धांतिक गवेषणा और उपलब्धि करते रहे हैं। इसी से उस समाज के ऐतिहासिक विकास की चारित्रिक विशेषता प्रकट होती है।

अब यद्यपि प्राचीन ग्रीकों की उद्देश्यपरक दृष्टि को ही हुस्सर्ल पाश्चात्य बौद्धिक विकास को समझने का मूल सूत्र मानता है, और ऐसा मानने में वह मूलतः सही भी जान पड़ता है, तथापि वह इसका उपयुक्त से अधिक साधारणीकरण कर देता है, क्योंकि उसके अनुसार यह सैद्धांतिकता समस्त मानव-चिंतन के इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्रांति है। वह समस्त मानव-मानसिकता की आद्य मीमांसा है जो स्वतः उस मानसिकता के आत्म-स्फुटन में निहित है। अपनी समस्त व्यवहार-परता और बहिर्मुखता के वावजूद मनुष्य अपने जगत् को देखने-समझने की जिस अवाध जिज्ञासा से पीड़ित होता है वही उसे अंततः उपर्युक्त सैद्धांतिकता की ओर खींच ले जाती है। दूसरे शब्दों में, अपने विशुद्ध ज्ञान की स्थिति में मनुष्य एक निर्विकार दर्शक या निरीक्षक बन जाता है—वह दार्शनिक बन जाता है। जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण एक मीमांसक का होता है।

किंतु आज की पाश्चात्य मानसिकता जिस भ्रांत बौद्धिकता की धुंध से ढँकी है और जिसके कारण ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आपत्स्थिति की सृष्टि हुई है उसमें उक्त मूल उद्देश्यपरक सैद्धांतिक दृष्टिकोण का अभाव व्याप्त है। और हुस्सर्ल के अनुसार इस प्रस्तुत आपत्स्थिति से छुटकारे के लिए केवल दो ही मार्ग खुले हैं : या तो पाश्चात्य जीवन अपनी मूल बौद्धिकता से च्युत होकर आदिम मानव-घृणा का शिकार होकर आत्मघात कर ले या फिर भ्रांत बौद्धिकता के गहरे धुंध को शुद्ध बुद्धिवादी दार्शनिक दृष्टिकोण द्वारा हटाकर आद्य सारभूत तत्त्व की दृष्टि रखते हुए पाश्चात्य जीवन अपना पुनरुद्धार करे। फिनामिनालॉजिकीय दर्शन पाश्चात्य जीवन द्वारा चुने गये द्वितीय विकल्प का ही व्यवस्थित दार्शनिक रूप है।

(ग) बुद्धिवाद की मीमांसा

परन्तु भ्रांत बौद्धिकता का स्वरूप क्या है? हुस्सर्ल उसे 'एक-पक्षीय बौद्धिकता' कहता है, अर्थात् ऐसी बौद्धिकता जो किसी विशिष्ट सत्य को सामान्य या सार्वभौम सत्य के रूप में स्थापित करने की चेष्टा करती है। 'विशिष्ट' को 'सार्वभौम' या 'आद्य' पर आरोपित करने से दर्शन में न केवल एक विधिमूलक दोष उत्पन्न होता है—जिसे हाइडेगर ने 'इकाईपरक सत्त्व' (ऑन्टिकल) और 'आद्य सत्त्व' (ऑन्टालॉजिकल) के बीच का भ्रम कहा है—वरन् इससे स्वतः ज्ञान के क्षेत्र में ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक ऐसी विचित्र मानसिक अन्धता का जन्म होता है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी कायम रहती है। अतः आश्चर्य नहीं कि फिनामिनालॉजिकीय चिंतक के अनुसार उक्त भ्रांत बौद्धिकता के घेरे में न केवल विशिष्ट विज्ञान समाहित होते हैं वरन् उसमें वह सब दार्शनिक चिंतन भी समा जाता है जो फिनामिनालॉजिकीय विधि द्वारा प्रतिष्ठित नहीं है।

बुद्धिवाद में, जो अपने मूल रूप में बिल्कुल सही है, उक्त भ्रामक स्थिति के उत्पन्न होने का मूल कारण है बौद्धिकता का बहिर्मुखीकरण। अधिक उचित यह कहना होगा कि मूलतः 'आत्म' रूप बौद्धिकता का 'प्रति'-स्थापन हुआ है—उसका केन्द्र व्यक्ति-रूप मनुष्य से हटकर निर्वैयक्तिक अमूर्त प्रत्ययों में केन्द्रीभूत हो गया है। परिणामतः उसका सारा तात्त्विक स्वभाव ही बदल गया है: उसे मानव-भाव का पारिभाषिक अंग न समझ कर 'प्रकृति' या 'वस्तुनिष्ठता' का ही एकांत पक्ष समझा जाने लगा है। अतः आश्चर्य नहीं कि भ्रांत बौद्धिकता से परिव्याप्त युग का लक्षण शुद्ध 'सैद्धांतिकता' न होकर 'आवश्यकता' हो। तब, कोई 'वस्तु' या 'वस्तु-स्थिति' हमारे समक्ष केवल आवश्यकता-संदर्भ में ही उपस्थित होती है और हो सकती है। यहां तक कि स्व-कांक्ष्य ज्ञान के क्षेत्र में भी हम 'विधि की आवश्यकता' महसूस करने लगे हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि 'सफल' प्राकृतिक-विज्ञानों की आगनात्मक-निगमनात्मक, प्रयोगात्मक-निरीक्षणात्मक विधि ही हमारे लिए ज्ञान के समग्र क्षेत्र में एक आदर्श विधि बन गई है। अतः अब यह पूछना अनिवार्य हो गया है कि क्या सफलता की उद्देश्यपरता वाली 'आवश्यकता' ही ज्ञान की 'अनिवार्यता' या 'प्रामाणिकता' निश्चित करेगी ? हुस्सर्ल का निश्चित उत्तर है—नहीं; क्योंकि प्रथम (अर्थात् आवश्यकता) वैयक्तिक, कालापेक्ष और मनोगत है, जबकि द्वितीय (अर्थात् अनिवार्यता) सार्वभौम, सार्वकालिक और तात्त्विक है।

अतः बुद्धिवाद का सही रूप स्पष्ट किया ही जाना चाहिये, जो तभी संभव है जब शुद्ध बुद्धि का रूप प्रकट हो। सही दार्शनिक सक्रियता में यही शुद्ध बुद्धि प्रकट होती है, और इसलिए दर्शन अनिवार्यतः बुद्धिवादी ही होगा। एक स्वतन्त्र और सार्वभौम सैद्धांतिक प्रवृत्ति के रूप में दर्शन वह सक्रियता है जो साधारणतः मान्य 'प्रदत्त' से परे उसे उद्घाटित करती है जो अपने-आप में सत्य है, आदर्श है। यह सक्रियता सत्यानुसंधान है, जिसमें बुद्धि सीधे सत्य को ग्रहण करती है और इसलिए सभी पूर्वाग्रहों व प्राक्कल्पनाओं से निर्बंधता उसकी सक्रियता की पहली शर्त है। हुस्सर्ल की इस 'बुद्धि' में सत्य की 'दृष्टि' व 'मीमांसा' दोनों साथ-साथ और स्वभावतः उपस्थित रहते हैं : अतः कांट जैसे विचारकों की बुद्धि' जो केवल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'मीमांसा' में सक्षम है, हुस्सर्ल की 'बुद्धि' से मौलिक रूप में भिन्न है। इस सवंध मे विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ केवल यह द्रष्टव्य है कि, हुस्सर्ल के मतानुसार जहाँ भी दार्शनिक चिंतन एकांत 'बौद्धिक आकारिकता' या ऐकांतिक 'आनुभविक जड़ता' से आगे नहीं बढ़ पाता वहाँ उसकी सक्रियता की अंतिम परिणति क्रमशः केवल 'शून्य वैचारिकता' और 'अनिर्णय या संदेहवाद' में होगी।

जब प्राकृतिक विज्ञान की सफलता से आक्रांत हुआ आज का चिंतक उसकी विधि को ही एकमात्र सही विधि समझ कर उसे स्वतः मानव-चेतना (स्पिरिट) पर भी लागू करता है तो परिणाम क्या होता है? तब या तो वह उसे भी प्राकृतिक घटनात्मकता का ही न-शरीरी न-अशरीरी रूप जानकर एक भयंकर अनिर्णय की स्थिति तक जा पहुँचता है या फिर उक्त अन्तिम अनिर्णय से बचने के लिए यही मान बैठता है कि इस मानव-शरीर-यंत्र में कोई अशरीरी 'भूत' छिप कर नहीं बैठा है। फिर उसे इस तथ्य की परवाह नहीं होती कि कोई भी वस्तुपरक व्याख्या उस वस्तुत्त्व या वस्तुनिष्ठामूलक (आब्जेक्टिव) आधार की अपेक्षा रखती है जो स्वयं किसी वस्तु-विशेष में न होकर आत्मनिष्ठ मानसिकता में होता है; कि मनुष्य का एक स्वानुभूत जगत्—विशुद्धतः मानसिक जगत्—है जो भौतिक जगत् का समानान्तर जगत् न होकर उसका आद्याधार है और स्वतः भौतिक जगत् में समाहित नहीं किया जा सकता। किन्तु प्राकृतिक विज्ञान की विधि से इस सत्य का दर्शन हो सकना संभव नहीं है।

अतः स्पप्ट है कि हुस्सर्ल उस प्रकार की बौद्धिकता को भ्रांत व पथ-भ्रष्ट समझता है जो अपने मूल में अमीमांसित हो तथा पूर्वाग्रहों से परिचालित हो, जैसाकि आधुनिक विज्ञानों के विधि-रूप में वह है। शुद्ध बौद्धिकता को पूर्वाग्रहमुक्त आत्म-मीमांसा का रूप वाला होना चाहिये। इस दृष्टि से बुद्धि को भावना या संवेदना का प्रतिद्वंदी नहीं समझा जा सकता: वह अवगमनात्मक अंतर्दृष्टि या बोधात्मक प्रतिभा का रूप वाला है, जैसाकि प्राचीन ग्रीकों ने उसे 'लोगोस' के रूप में समझा था। दूसरी ओर, वही लेटिन के 'रेशियो' के रूप में शुद्ध संबंधक या नियोजक भी है जो आत्मदृष्टि बनकर वस्तुत्व से वस्तुओं को एक एकात्मक संरचना में गठित करता है। अतः हुस्सर्ल जिस बुद्धिवाद का समर्थक है वह अनुभववाद का विरोधी बुद्धिवाद नहीं है, क्योंकि वह अव्यवहित जीवंत अनुभव-जगत् की व्याख्या शुद्ध परिमाणात्मक या एकान्ततः आकारिक रूप में करने का प्रयास नहीं करता। एक शुद्ध आत्मनिष्ठ मानसिक प्रक्रिया के रूप में स्वतः 'अनुभव' भी स्वयं-प्रकाश्य बौद्धिकता या बोद्धात्मक प्रतिभा से कुछ अलग नहीं है। और चूंकि वह बुद्धि से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एकात्म है, हमारे समग्र ज्ञान के लिए वही एकमात्र सही निकष है। दूसरे शब्दों में, फिनामिनालॉजी एक शुद्ध बुद्धिवाद की ही तरह एक शुद्ध अनुभववाद भी है।

(घ) पारंपरिक दर्शन की समीक्षा

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि हुस्सर्ल के अनुसार फिनामिनालॉजी का मुख्य आलोच्य विषय 'ज्ञान की समस्यात्मकता' का ठीक-ठीक समाधान है। हुस्सर्ल के शुद्ध बुद्धिवाद और शुद्ध अनुभववाद का महत्त्व उक्त समाधान के संदर्भ से ही है। ज्ञान की समस्यात्मकता वस्तुतः ज्ञान की प्रामाणिकता से संबंध रखती है—अर्थात् समस्या सत्यासत्य निर्णयों के रूप में न होकर निर्णय-प्रक्रिया की ही प्रामाणिकता के निकष के संबंध में है। और यह निकष, हुस्सर्ल के अनुसार, केवल तभी अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है जब वह न केवल ज्ञान के स्वरूप को वरन् उसकी अंतर्वस्तु को भी मानसिकता में ही प्रतिष्ठित कर सके।

ज्ञातव्य है कि ज्ञान की समस्यात्मकता दर्शन-शास्त्र में कोई नयी चीज़ नहीं है, यद्यपि हुस्सर्ल ने जो उसका समाधान प्रस्तुत किया वह अपनी सारी कठिनाइयों के बावजूद नया है। ज्ञान की समस्यात्मकता का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि स्वतः ज्ञान की प्रस्तुति ही एक समस्या के रूप में होती है—इसीलिए ज्ञान के संबंध में साधारणतः कोई समस्या न होने पर भी, उसकी अभिव्यक्ति को ठीक-ठीक समझने का प्रश्न हमारे सामने बना ही रहता है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि ज्ञान की समस्यात्मकता का कोई हल किसी वैज्ञानिक विधि द्वारा संभव नहीं है—इसलिए क्योंकि इस समस्यात्मकता का संबंध किसी भी घटना-विशेष या किन्हीं घटनाओं की समग्रता से बिल्कुल नहीं है। ज्ञान की समस्यात्मकता अपने समाधान के लिए उस आत्म-चिंतन या आत्म-मीमांसा की अपेक्षा रखती है जो ग्रीकों के दर्शन में मूल सैद्धांतिकता के रूप में उभरा है। हुस्सर्ल के अनुमार साक्रेटीज़-प्लेटो-प्रतिपादित दर्शन की उक्त धारणा ज्ञान की समस्यात्मकता को हल करने की दिशा में पहला महत्त्वपूर्ण कदम है। अतः इसे वह एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक-क्रांति कहता है।

इस दिशा में दूसरी महत्त्वपूर्ण क्रांति, हुस्सर्ल के अनुसार, देकार्त-परिचालित रही। देकार्त ने पहली बार अनुभव व बुद्धि दोनों ही क्षेत्रों में मानव-मानसिकता को प्रमुखता दी। यह स्वीकार करते हुए कि मानव-मानसिकता में नैसर्गिक प्रवृत्तियों व सैद्धांतिक चिंतन के आधारभूत भेद की पहचान होने पर ही हम ज्ञान की प्रामाणिकता के प्रति सजग हो सकते हैं, देकार्त ने उस 'विधि' पर ज़ोर दिया जो नैसर्गिक प्रवृत्तियों का निराकरण करते हुए सैद्धांतिक चिंतन को उसका उचित आधार प्रदान कर सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'मीमांसा' में सक्षम है, हुस्सर्ल की 'बुद्धि' से मौलिक रूप में भिन्न है। इस सबंध मे विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ केवल यह द्रष्टव्य है कि, हुस्सर्ल के मतानुसार जहाँ भी दार्शनिक चिंतन एकांत 'बौद्धिक आकारिकता' या ऐकांतिक 'आनुभविक जड़ता' से आगे नहीं बढ़ पाता वहाँ उसकी सक्रियता की अंतिम परिणति क्रमशः केवल 'शून्य वैचारिकता' और 'अनिर्णय या संदेहवाद' में होगी।

जब प्राकृतिक विज्ञान की सफलता से आक्रांत हुआ आज का चिंतक उसकी विधि को ही एकमात्र सही विधि समझ कर उसे स्वतः मानव-चेतना (स्पिरिट) पर भी लागू करता है तो परिणाम क्या होता है? तब या तो वह उसे भी प्राकृतिक घटनात्मकता का ही न-शरीरी न-अशरीरी रूप जानकर एक भयंकर अनिर्णय की स्थिति तक जा पहुँचता है या फिर उक्त अन्तिम अनिर्णय से बचने के लिए यही मान बैठता है कि इस मानव-शरीर-यंत्र में कोई अशरीरी 'भूत' छिप कर नहीं बैठा है। फिर उसे इस तथ्य की परवाह नहीं होती कि कोई भी वस्तुपरक व्याख्या उस वस्तुत्व या वस्तुनिष्ठामूलक (आब्जेक्टिव) आधार की अपेक्षा रखती है जो स्वयं किसी वस्तु-विशेष में न होकर आत्मनिष्ठ मानसिकता में होता है; कि मनुष्य का एक स्वानुभूत जगत्—विशुद्धतः मानसिक जगत्—है जो भौतिक जगत् का समानान्तर जगत् न होकर उसका आद्याधार है और स्वतः भौतिक जगत् में समाहित नहीं किया जा सकता। किन्तु प्राकृतिक विज्ञान की विधि से इस सत्य का दर्शन हो सकना संभव नहीं है।

अतः स्पष्ट है कि हुस्सर्ल उस प्रकार की बौद्धिकता को भ्रांत व पथ-भ्रष्ट समझता है जो अपने मूल में अमीमांसित हो तथा पूर्वाग्रहों से परिचालित हो, जैसाकि आधुनिक विज्ञानों के विधि-रूप में वह है। शुद्ध बौद्धिकता को पूर्वाग्रहमुक्त आत्म-मीमांसा का रूप वाला होना चाहिये। इस दृष्टि से बुद्धि को भावना या संवेदना का प्रतिद्वंदी नहीं समझा जा सकता: वह अवगमनात्मक अंतर्दृष्टि या बोधात्मक प्रतिभा का रूप वाला है, जैसाकि प्राचीन ग्रीकों ने उसे 'लोगोस' के रूप में समझा था। दूसरी ओर, वही लेटिन के 'रेशियो' के रूप में शुद्ध संबंधक या नियोजक भी है जो आत्मदृष्टि बनकर वस्तुत्व से वस्तुओं को एक एकात्मक संरचना में गठित करता है। अतः हुस्सर्ल जिस बुद्धिवाद का समर्थक है वह अनुभववाद का विरोधी बुद्धिवाद नहीं है, क्योंकि वह अव्यवहित जीवंत अनुभव-जगत् की व्याख्या शुद्ध परिमाणात्मक या एकान्ततः आकारिक रूप में करने का प्रयास नहीं करता। एक शुद्ध आत्मनिष्ठ मानसिक प्रक्रिया के रूप में स्वतः 'अनुभव' भी स्वयं-प्रकाश्य बौद्धिकता या बोद्धात्मक प्रतिभा से कुछ अलग नहीं है। और चूंकि वह बुद्धि से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एकात्म है, हमारे समग्र ज्ञान के लिए वही एकमात्र सही निकष है। दूसरे शब्दों में, फिनामिनालॉजी एक शुद्ध बुद्धिवाद की ही तरह एक शुद्ध अनुभववाद भी है।

(घ) पारंपरिक दर्शन की समीक्षा

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि हुस्सर्ल के अनुसार फिनामिनालॉजी का मुख्य आलोच्य विषय 'ज्ञान की समस्यात्मकता' का ठीक-ठीक समाधान है। हुस्सर्ल के शुद्ध बुद्धिवाद और शुद्ध अनुभववाद का महत्त्व उक्त समाधान के संदर्भ से ही है। ज्ञान की समस्यात्मकता वस्तुतः ज्ञान की प्रामाणिकता से संबंध रखती है—अर्थात् समस्या सत्यासत्य निर्णयों के रूप में न होकर निर्णय-प्रक्रिया की ही प्रामाणिकता के निकष के संबंध में है। और यह निकष, हुस्सर्ल के अनुसार, केवल तभी अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है जब वह न केवल ज्ञान के स्वरूप को वरन् उसकी अंतर्वस्तु को भी मानसिकता में ही प्रतिष्ठित कर सके।

ज्ञातव्य है कि ज्ञान की समस्यात्मकता दर्शन-शास्त्र में कोई नयी चीज़ नहीं है, यद्यपि हुस्सर्ल ने जो उसका समाधान प्रस्तुत किया वह अपनी सारी कठिनाइयों के बावजूद नया है। ज्ञान की समस्यात्मकता का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि स्वतः ज्ञान की प्रस्तुति ही एक समस्या के रूप में होती है—इसीलिए ज्ञान के संबंध में साधारणतः कोई समस्या न होने पर भी, उसकी अभिव्यक्ति को ठीक-ठीक समझने का प्रश्न हमारे सामने बना ही रहता है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि ज्ञान की समस्यात्मकता का कोई हल किसी वैज्ञानिक विधि द्वारा संभव नहीं है—इसलिए क्योंकि इस समस्यात्मकता का संबंध किसी भी घटना-विशेष या किन्हीं घटनाओं की समग्रता से बिल्कुल नहीं है। ज्ञान की समस्यात्मकता अपने समाधान के लिए उस आत्म-चिंतन या आत्म-मीमांसा की अपेक्षा रखती है जो ग्रीकों के दर्शन में मूल सैद्धांतिकता के रूप में उभरा है। हुस्सर्ल के अनुसार साक्रेटीज़-प्लेटो-प्रतिपादित दर्शन की उक्त धारणा ज्ञान की समस्यात्मकता को हल करने की दिशा में पहला महत्त्वपूर्ण कदम है। अतः इसे वह एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक-क्रांति कहता है।

इस दिशा में दूसरी महत्त्वपूर्ण क्रांति, हुस्सर्ल के अनुसार, देकार्त-परिचालित रही। देकार्त ने पहली बार अनुभव व बुद्धि दोनों ही क्षेत्रों में मानव-मानसिकता को प्रमुखता दी। यह स्वीकार करते हुए कि मानव-मानसिकता में नैसर्गिक प्रवृत्तियों व सैद्धांतिक चिंतन के आधारभूत भेद की पहचान होने पर ही हम ज्ञान की प्रामाणिकता के प्रति सजग हो सकते हैं, देकार्त ने उस 'विधि' पर ज़ोर दिया जो नैसर्गिक प्रवृत्तियों का निराकरण करते हुए सैद्धांतिक चिंतन को उसका उचित आधार प्रदान कर सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञान की समस्यात्मकता के समाधान की दिशा में तीसरी महत्त्वपूर्ण क्रांति कांट ने आरम्भ की। देकार्त की ही तरह कांट ने भी बुद्धि की नैसर्गिक प्रवृत्तियों व उसकी सैद्धांतिक सक्रियता के बीच भेद किया और फलस्वरूप बुद्धि की स्वाभाविक पराक्-परक* (मेटाफिज़िकल) प्रवृत्ति का प्राविधिक निषेध किया। उसने पहली बार यह महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रतिपादित किया कि ज्ञान की प्रामाणिकता व सीमा का प्रश्न अनिवार्यतः अनुभव के घेरे के बीच ही सुलझाया जाना चाहिये, कि यद्यपि ज्ञान की प्रामाणिकता का स्रोत स्वतः अनुभव नहीं हो सकता तथापि तत्संबंधा प्रत्येक विचार का अधिष्ठान अनुभव-संदर्भ अवश्य है।

हुस्सर्ल का मत है कि उक्त ज्ञान की समस्यात्मकता को हल करने में अंतिम महत्त्वपूर्ण क्रांति का मार्ग उसने स्वयं प्रशस्त किया है, क्योंकि केवल उसने ही पहली बार यह दिखाया है कि ज्ञान का स्वरूप व उसकी अन्तर्वस्तु दोनों मानव-मानसिकता में ही प्रतिष्ठित हैं। निस्संदेह अपनी इस दार्शनिक परिणति में वह साक्रेटीज़-प्लेटो, देकार्त व कांट की विचार-धाराओं का प्रभाव मानता है तथापि वह अपनी चिंतन-धारा को इन सबसे मूलतः पृथक् और नवीन भी समझता है, क्योंकि मानव-मानसिकता का उसका अपना अध्ययन व विवेचना उक्त सभी दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक आधारभूत है।

किंतु हुस्सर्ल की उक्त 'अंतिम महत्त्वपूर्ण क्रांति' की बात से हाइडेगर सहमत नहीं हैं। उसके अनुसार उसकी स्वयं अपनी आधारभूत सत्तामीमांसा ही ज्ञान की समस्यात्मकता का अंतिम समाधान प्रस्तुत कर सकने में सक्षम है। उसका तर्क है कि ज्ञान की समस्या मूलतः एक भावपरक समस्या है : कैसे दो मूलतः भिन्न भावों (ज्ञाता-भाव और 'ज्ञेय-भाव) के बीच कोई ज्ञान-संबंध संभव है ? अतः स्वाभाविक है कि इस प्रश्न का उचित समाधान उक्त दो भावों की सम्यक् विवेचना की अपेक्षा रखता है। उल्लेखनीय है कि इस विवेचना में हाइडेगर फिनामिनालॉजिकीय विधि का ही प्रयोग करता है, किंतु इस विधि का मुख्य विषय वह 'सत् या भाव' को समझता है, हुस्सर्ल की तरह 'ज्ञान' को नहीं। इस संबंध में कुछ विस्तृत विवेचना हम अंतिम अध्याय में करेंगे।

जहां तक पारंपरिक दर्शन का सवाल है, यह कह देना आवश्यक है कि हुस्सर्ल और हाइडेगर दोनों के ही अनुसार उसकी कुछ उपलब्धियाँ रही हैं किंतु वे अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रतिपादित व विकसित नहीं हो सकीं, क्योंकि उनका प्राविधिक पक्ष कमज़ोर रहा—उसमें इस फिनामिनालॉजिकीय विधि का प्रयोग नहीं हुआ जो

* लेखक—पराभौतिकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्यानुसंधान में सर्वाधिक समर्थ विधि है। उदाहरणार्थ, देकार्त ने जिस रूप में 'संज्ञान' (कॉग्निशन) की धारणा की उससे वह अतिक्रामी* (ट्रांसेंडेंटल) मानसिकता को समझ पाने में समर्थ होता यदि वह आत्म-संबंधी पारंपरिक द्रव्यात्मक पूर्वाग्रह से मुक्त हो पाता। किंतु वैसा हो सकना संभव नहीं था क्योंकि उसने संज्ञान की समझ फिनामिनालॉजिकीय विधि द्वारा नहीं वरन् एक प्राक्कल्पनात्मक-कारणात्मक विधि द्वारा प्राप्त करने की कोशिश की। इस प्राविधिक दृष्टि से देकार्त की अपेक्षा ह्यूम फिनामिनालॉजी के अधिक निकट रहा। उसने कारणात्मक विधि को भाव व ज्ञान दोनों ही क्षेत्रों में मूलतः अनुत्पादक माना। किंतु लॉक तथा लोकसम्मत प्रकृतिवाद की परम्परा में होने के कारण उसने उक्त कारणात्मक समाधान के अभाव को ही किसी भी प्रकार के समाधान का अभाव मान लिया और इस तरह एक अनावश्यक संदेहवाद के चक्कर में पड़ गया।

दूसरी ओर, उचित दिशा में आगे बढ़कर भी कांट पर्याप्त प्रगति नहीं कर पाया और परिणामतः उसकी 'कोपरनिकन क्रांति' अधूरी रह गई। ह्यूम के संदेहवाद से बचने के लिये उसने अतिक्रामी और परात्मक मानसिकता को अवश्य स्वीकार किया, किंतु तभी 'स्वलक्षण-वस्तु' को 'परात्मकता' से संलग्न कर उसने मानसिकता की शुद्धता को नष्ट कर दिया। इस तरह न तो वह दर्शन को एक सार्वभौम विज्ञान का रूप दे सका और न ही समस्त वस्तुनिष्ठता का बौद्धिकीकरण कर चुकने पर भी उसे प्रामाणिक बना सका। बौद्धिक अनिवार्यता की सारी महत्त्वपूर्ण बातें कह कर भी कांट उसका सही-सही रूप स्पष्ट कर सकने में असमर्थ रहा, क्योंकि उसने बौद्धिक नियामकता को ही अपनी अनिवार्यता की व्याख्या में पर्याप्त समझ लिया, जबकि वास्तविकता यह है कि इस संबंध में प्रामाणिकता का सारा सवाल अनुभव में अंतर्भाव्य बौद्धिक रचनात्मकता का रूप समझने से जुड़ा हुआ है।

(ङ) प्रकृतिवाद की आलोचना

हुस्सर्ल का दृढ़ मत है कि पारपरिक दार्शनिक चिंतन के मार्ग में प्रकृतिवाद का प्रभाव सर्वाधिक दुष्परिणामकारी रहा है। उसने बुद्धिवाद और अनुभववाद को समान रूप से भ्रांत किया है, और यह उसी का प्रभाव है कि प्राकृतिक विज्ञानों और आध्यात्मिक विज्ञानों के बीच अस्पष्टता व अव्यवस्था की दशा बनी हुई है। यह भ्रामक स्थिति निस्संदेह किसी भी आत्मचेतन व जागरूक बुद्धि के लिए असहनीय है। अतः स्वाभाविक है कि कांट, डिल्थे, रिकर्ट, ब्रेंटानो, माइनांङ् जैसे चिंतकों ने

* लेखक—अनुभवातिक्रामी।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस ग्रोर ध्यान दिया; किंतु चूंकि एकांत या निरपेक्ष वस्तुनिष्ठता के प्रति उनका मोह नहीं छूट सका, वे उक्त भ्रामक स्थिति से छुटकारे की दिशा में अधिक आगे नहीं बढ़ सके।

द्रष्टव्य है कि प्रकृतिवाद का जन्म बिल्कुल सही उद्देश्य को लेकर होता है—कि परंपरा और अंधविश्वास से परे सत्य को केवल आत्मानुशासित बुद्धि के सहारे स्थिर किया जाय। तदनुसार तथ्यों पर आधारित बौद्धिक या वैज्ञानिक निर्णय का अर्थ है स्वयं तथ्यों से ही दिशा-ग्रहण। किंतु इसका अर्थ प्रकृतिवाद के अनुसार होता है—समस्त विज्ञान का उत्स अनुभव है, वह अनुभव जिसके लिए तथ्य प्रदत्त रूप हैं। इस तरह प्रकृतिवाद के लिए 'सही विज्ञान' और 'आनुभविक विज्ञान' समानार्थी बन जाते हैं और परिणामतः तथ्यों के विपरीत 'तत्त्व' मात्र परातात्त्विकीय (मैटा-फिज़ीकल) मिथ्याभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। अतः आश्चर्य नहीं कि प्रकृतिवाद से प्रभावित दार्शनिक दर्शन को व्यर्थ अपलाप-प्रलाप से मुक्त करने का दावा करता हुआ दिखाई पड़ता है। उसके अनुसार तथ्य-जगत् से परे केवल काल्पनिक जगत् है और तथ्य-विज्ञान के परे केवल काल्पनिक विज्ञान।

किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि प्रकृतिवाद अपने-आप में अमीमांसित है। अतः इसके पहले कि उसे एक दार्शनिक दृष्टिकोण का रूप दिया जाय उसकी मान्यताओं की सम्यक् परीक्षा आवश्यक है। पहले तो यही देखना चाहिये कि समस्त ज्ञान को अनुभव पर आधारित करने की उसकी चेष्टा और उसके परिणामस्वरूप 'भौतिक' को ही सत् समझने का उसका आग्रह किसी साक्ष्य पर आधारित नहीं है। वस्तुतः यह ध्यातव्य है कि चूंकि सहजतः उपलब्ध अनुभवों में केवल शुद्ध विशिष्ट प्रदत्त होते हैं किसी विज्ञान को, जो सामान्य की अपेक्षा रखता है, केवल अनुभवों पर आधारित मानना एक भूल है। फिर, यदि यह मान भी लिया जाय कि विशिष्टों के संदर्भ में सामान्य की कल्पना संभव है, तब भी यह प्रश्न नहीं सुलझता कि इस कल्पना की प्रामाणिकता किस प्रकार की है। क्या स्वयं ह्यूम ने ही इस तरह की कल्पित सामान्यता पर संदेह प्रकट नहीं किया ? किंतु इस संदेह से शुद्ध वैज्ञानिक ज्ञान की संभावना ही समाप्त नहीं हो जाती: यह संदेह केवल यह व्यक्त करता है कि ऐकांतिक अनुभववादी मान्यताएँ वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त कर सकने में नितांत असमर्थ हैं। एक सैद्धांतिक दृष्टिकोण के रूप में वह ऐसी मान्यताओं, नियमों व सामान्यताओं पर आधारित है जिनकी प्रामाणिकता वह स्वयं प्रस्तुत नहीं करता। इस प्रामाणिकता के लिए हमें अनुभव की बाहरी परतों को लाँघकर उसके मूल में स्थित आद्य सहज-बोध* (इन्ट्यूशन) तक पहुँचना होगा।

* लेखक—अंतर्ज्ञान।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकृतिवाद के अंतर्गत मानव-चेतना या मानसिकता को भी "भौतिक" की ही एक विशेष अभिव्यक्ति समझा जाता है। इसकी आलोचना करता हुआ हुस्सर्ल कहता है : "न तो कभी ऐसा हुआ है और न होगा कि मानसिकता का एक वस्तुनिष्ठ विज्ञान, एक वस्तुनिष्ठ व्याख्या हो सके—इस अर्थ में वस्तुनिष्ठ कि उससे चेतनाओं (स्पिरिट्स) या व्यक्तियों के समाजों को देश-कालिक रूप में सत्तावान् कहा जा सके।" उसके अनुसार, सही वस्तुस्थिति यह है कि चूंकि केवल मानव-मानसिकता ही स्व-लक्षण युक्त व स्व-कांक्ष्य सत्त्व (बीइंग) है, अर्थात्, 'सत्त्व' की पूर्णता का रूप वाला है, अतः केवल उसी का पूर्ण व शुद्ध विज्ञान हो सकता है। सही बौद्धिकता में केवल वही ग्राह्य है। प्रकृति विज्ञानों में 'प्रकृति' को अपने-आप से स्व-लक्षण समझने का जो दावा किया जाता है वह वस्तुत. उक्त मानव-सत्त्व से संबंधित आद्य-विज्ञान के इस तथ्य की छाया-मात्र है कि मानव-मानसिकता ही अपनी प्रकृति-गवेषणा से प्रकृति को उसका अपना स्व-रूप प्रदान करती है। इस तरह वही समस्त प्रकृति विज्ञानों की जड़ में है।

इस तरह स्पष्ट है कि मानव-मानसिकता का भौतिकीकरण कर चुकने पर प्रकृतिवाद अपने-आपको एक आत्म-व्याघातक स्थिति से जकड़ लेता है। किंतु यह स्थिति स्वतः प्रकृतिविज्ञान के लिए चाहे कितनी भी असुविधाजनक क्यों न हो, वह इसी के सहारे आधुनिक दार्शनिक चिंतन को एक घोर अंधकार की दिशा प्रदान करने में अवश्य काफी सफल हुआ है। आत्मनिष्ठतामूलक मानसिकता का अपना स्वतन्त्र आधार खो देने से अस्पष्टता की स्थिति में फँसा दर्शन आज किसी भी निश्चित दिशा में बढ़ पाने में अपने को असमर्थ पाता है। उसकी पुरानी गरिमा लुप्त हो चुकी है। जैसे मानो उसे चारों ओर से घेर कर दबाया-धमकाया, बहलाया-फुसलाया जा रहा हो कि वह या तो प्रगति-पँथी सफल प्रकृतिविज्ञानों का अनुगमन करे, या अपनी ही मूढ़ता में डूब मरे, या फिर अतीत में सुनसान खंडहरों में एकाकी घुट कर रह जाय!

इसीलिए नये दार्शनिक-दृष्टिकोण के रूप में फिनामिनालॉजी की प्रतिष्ठा में हुस्सर्ल प्रकृतिवाद के आमूल खंडन को बड़ा महत्त्व देता है। अतः स्वाभाविक है कि प्रकृतिवाद का यह खंडन अपने विस्तार और गहराई में दर्शन-शास्त्र के इतिहास में अभूतपूर्व है। इस खडन की मुख्य बातें ये हैं :

(१) यद्यपि अपनी सैद्धांतिक प्रक्रिया में प्रकृतिवाद मूलतः मानसिक है, व्यवहार में वह अपनी उक्त सैद्धांतिकता के ठीक विपरीत सभी मनस्तत्त्ववाद का निषेध करता है। प्रकृति के बौद्धिकीकरण के अपने सही आदर्श से भटक कर अपनी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिणति में वह बुद्धि का ही प्रकृतिकरण कर डालता है।

(२) मानव-जीवन की समग्रता व उद्देश्यपरता की निरंतर अवहेलना कर वह पूर्णतः ऐकांतिक, अ-दार्शनिक और तथ्यपरक वन गया है। इससे उसमें वह 'हृदयहीनता' विकसित हुई है जिससे आधुनिक विज्ञान मनुष्य-मात्र के लिए विपत्ति का कारण वना हुआ है।

(३) इस भ्रांत प्रकृतिवाद के कारण ही आधुनिक विज्ञान पूर्ण सत्य व प्रामाणिकता की समस्याएँ हल करने में न केवल बुरी तरह असफल रहा है वरन् इस संबंध में गलत धारणाओं को प्रचारित कर उसने दार्शनिक-चिंतन को भी पथ-भ्रष्ट कर दिया है : दर्शन मानक (नॉरमेटिव) विषयों के क्षेत्र, जैसे नीतिशास्त्र, मूल्य-विज्ञान, प्रमाणशास्त्र आदि में अपनी उचित अभिव्यक्ति पाता है जब कि आधुनिक प्रकृतिवादी विज्ञानों के प्रभाव में आज वह भी तथ्यपरक या आनुभविक विधि-विधान में जकड़ा पाया जाता है।

(च) मनोविज्ञानवाद की आलोचना

प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से भ्रष्ट हुए दर्शनों में से एक मुख्य दर्शन वह है जो मनोविज्ञानवाद पर आधारित है। वस्तुतः मनोविज्ञानवाद प्रकृतिवाद की ही एक विशेष अभिव्यक्ति है। मिल, स्पेंसर जैसे दार्शनिक-चिंतक इसके समर्थक रहे हैं।

फिनामिनालॉजी के अभ्युदय के पहले ही जर्मन तर्कशास्त्री फ्रेगे ने मनोविज्ञानवाद के उस विशिष्ट रूप की आलोचना की थी जिसके अनुसार तार्किक नियमों की प्रामाणिकता का आधार मनोवैज्ञानिक नियमों को समझा गया। अपनी आलोचना में फ्रेगे ने कहा कि मनोविज्ञान के आगमनात्मक सामान्यीकरण तार्किक नियमों की आकारिकता, सार्वभौमिकता व सर्वप्रामाणिकता को किसी भी तरह प्रभावित नहीं कर सकते; उक्त सामान्यीकरण द्वारा उन्हें सिद्ध करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

हुस्सर्ल फ्रेगे की उक्त आलोचना से सहमत था, जैसाकि, उदाहरणतः व्याघात के तार्किक नियम की मनोविज्ञानवादी व्याख्या की उसकी आलोचना से स्पष्ट है। मनोविज्ञानवादी मिल का मत था कि उक्त तार्किक नियम हमारे इस निरीक्षण पर आधारित सामान्य अनुभव है कि विश्वास और अविश्वास दो परस्पर विरोधी मनःस्थितियाँ हैं जो एक-दूसरे का बहिष्कार करती हैं। हुस्सर्ल ने इस मत की आलोचना करते हुए कहा कि मिल का उक्त कथन एक तथ्यात्मक (किंतु क्या सचमुच तथ्यात्मक ?) स्थापना है जिससे हमारी भविष्योन्मुखी चिंतन-प्रक्रिया के बारे में एक संभावना मात्र व्यक्त होती है, किसी तार्किक-नियम की अनिवार्यता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं। पुनः, यह उस वाक्य-नियम के बारे में क्या कथन कर सकता है जिसके अनुसार कोई भी वाक्य एक-साथ सत्य और असत्य नहीं हो सकता। आशय यह कि तार्किक-नियम, और इसलिए तर्कशास्त्र भी, तथ्यों या उनके अनुभवों पर आधारित नहीं किये जा सकते। हुस्सर्ल के मत में तर्कशास्त्र का सही आधार केवल फिनामिनालॉजी ही हो सकता है, क्योंकि केवल फिनामिनालॉजी ही तार्किक विषयों और उनके अनुभवों की सही ज्ञानमीमांसात्मक व्याख्या कर सकने में सक्षम है। शुद्ध तर्कशास्त्र केवल इसी आधार से प्राप्त हो सकता है।

मनोविज्ञानवाद की एक और धारणा के अनुसार, स्वतः मनोगत अनुभव भी वस्तु-रूप में अवगम्य हैं। इस धारणा का सीधा असर नीतिशास्त्र जैसे मूल्य-परक विज्ञानों पर होता है जो सीधे सामान्य अनुभव-विज्ञानों के स्तर पर घसीट लिये जाते हैं। हुस्सर्ल का मत है कि मनोविज्ञानवाद की यह धारणा वस्तुतः उसकी 'मानसिक अंधता' की द्योतक है जो अनुभवों को वस्तु-रूप मान लेने से उनके तत्त्व-रूप को केवल उन अमूर्त प्रत्ययों के रूप में देख पाता है जो मात्र तार्किक रचनाएँ हैं। परिणामतः मनोविज्ञानवाद दर्शन को तो भ्रष्ट करता ही है स्वतः मनोविज्ञान को भी भ्रष्ट करने से वह नहीं चूकता। चूंकि वह अंतर्निरीक्षण को मान्यता नहीं देता, वह चेतना की अंतर्वस्तुओं के सीधे ज्ञान को अस्वीकार करता है और इस तरह वह स्वयं उन प्रत्ययों के तत्त्व को समझने में बाधक बन जाता है जिनके सहारे वह क्रियान्वित होता है। निस्संदेह अनुभवों के निरूपण में हमें उन प्रत्ययों का प्रयोग करना होता है जो अनुभवों की घटनात्मकता से नहीं वरन् उनमें चेतना-क्रिया के तात्त्विक विश्लेषण से प्राप्त होते हैं। यह अवश्य सत्य है कि अनुभव की घटनात्मकता के बिना प्रत्यय सक्रिय नहीं होते—जैसाकि कांट ने बिल्कुल ठीक कहा था—किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि प्रत्ययों की प्रामाणिकता स्वतः अनुभव की घटनात्मकता पर आधारित होती है। उनकी प्रामाणिकता, जैसाकि पुनः कांट ने कहा, अवश्य परानुभविक है, क्योंकि घटनात्मकता की आकस्मिकता किसी भी प्रमाण का आधार बन सकने में असमर्थ है। अतः मनोविज्ञानवाद द्वारा अनुभव को उसकी घटनात्मकता में ही विज्ञान का विषय मान लेना एक दुराग्रह मात्र है: तत्संबंध में वैज्ञानिक प्रश्न उक्त आधार पर कभी सुलझाया नहीं जा सकता। यही कारण है कि 'चेतना' का प्रकृतिकरण करने वाला आधुनिक मनोविज्ञान मानव-मनस् संबंधी किसी तात्त्विक या प्रामाणिक ज्ञान तक पहुँचने में असफल रहता है। मानव-चेतना का क्षेत्र 'भौतिक' की कार्य-कारण नियामकता से बिल्कुल स्वतंत्र है। वह शुद्ध अणुवत् भावों से बनता है और केवल तात्त्विक अंतर्दृष्टि से अवगम्य है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानव-चेतना को उसके इस तात्त्विक रूप में ग्रहण करना ही फिनामिनालॉजी का मुख्य उद्देश्य है। वह मानव-मनोजगत् का विज्ञान है और इसी रूप में उसे हुस्सर्ल ने 'शुद्ध तात्त्विक मनोविज्ञान' (प्योर आइडेटिक साइकोलॉजी) कहा है। 'आनुभविक मनोविज्ञान' का आधार यही 'शुद्ध तात्त्विक मनोविज्ञान' है।

(छ) इतिहासवाद और विश्वदृष्टिवाद की समीक्षा :

अब स्पष्ट है कि हुस्सर्ल की दृष्टि में मनोविज्ञानवाद की मुख्य कमज़ोरी यह है कि वह पर्याप्ततः वैज्ञानिक नहीं है। इतिहासवाद की दृष्टि से भी मनोविज्ञानवाद एक दार्शनिक धारणा के रूप में कमज़ोर है—इसलिए नहीं कि वह पर्याप्तत वैज्ञानिक नहीं है वरन् इसलिए क्योंकि वह अति-वैज्ञानिक है।

इतिहासवाद समस्त सत् व सत्य को ऐतिहासिक विकास से सापेक्ष मानता है। वह इतिहास को मनस् की विकासमान् गति के रूप में देखता है और इस गति के अंतर्गत वस्तु-स्थितियों को परस्पर निर्भर समझता है। अतः उसके अनुसार ज्ञान की ऐसी कोई स्थिति नहीं हो सकती जो संदेहरहित होकर किसी निरपेक्ष या स्वतः-प्रमाण सत्य का स्पर्श कर सके। उसके अनुसार सत्य केवल सापेक्षतः, अर्थात् घटना-क्रम से, संदर्भयुक्त होकर और इसलिये संदेह की परिधि के भीतर ही, गृहीत हो सकता है। किंतु तब क्या उसे 'सत्य' कहा जा सकता है?

इतिहासवाद के एक समकालीन प्रवक्ता विल्हम डिल्थे के मत की आलोचना करते हुए हुस्सर्ल स्पष्ट करता है कि वास्तविक विज्ञान (या कला अथवा धर्म, जो भी मनस् की कालिक अभिव्यक्तियाँ हैं) और सत्तायुत वैज्ञानिक स्थिति के रूप में ऐतिहासिक घटना (तथ्य) परस्पर बिल्कुल भिन्न हैं। प्रथम का आशय विज्ञान की प्रामाणिकता से है जबकि द्वितीय प्रथम का स्थूल या ठोस रूप है। इतिहासवाद उक्त अंतर को न समझ पाने के कारण यह समझने की भूल करता है कि इतिहास ही घटनात्मकता व प्रामाणिकता दोनों का आधार है। किंतु वस्तु-स्थिति यह है कि इतिहास किसी स्थिति की प्रामाणिकता का निर्णय नहीं करता, न ही वह इसका निर्णय कर सकता है कि अब तक किसी पूर्ण सत्य या ज्ञान की उपस्थिति नहीं हो सकी। उक्त निर्णय मूल्यपरक निर्णय हैं जो इतिहासवाद के अंतर्गत संभव नहीं हैं।

इतिहासवाद में उक्त निर्णय-संबंधी कमी की पूर्ति के लिए ही उसी के अंतर्गत विश्वदृष्टिवाद की उद्भावना होती है। विश्वदृष्टिवाद इतिहासवाद की तरह मनस् की विकासमान् स्थितियों की विविधता स्वीकार कर उन्हें परस्पर संतुलित करने का प्रयास नहीं करता वरन् एक कदम आगे बढ़ कर वह उन्हें एक तात्त्विक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(एसेंशिअल) सैद्धांतिक एकात्मकता में बद्ध करता है तथा इस एकात्मक दृष्टिकोण को 'दर्शन' कहता है। विश्वदृष्टिवाद मूलतः एक मानवतावाद है: यह सभी वस्तुस्थितियों को समान रूप से प्रामाणिक मानता है (जबकि इतिहासवाद उन्हें समान रूप से अ-प्रामाणिक मानता है), क्योंकि वे सभी अपने काल-विशेष में मनस् के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण वैयक्तिक योग देती हैं। तदनुसार दर्शन व्यक्ति व समाज के उन्नायक रूप में उभरता है; उसका इसके अतिरिक्त किसी सत्य—वैज्ञानिक वास्तविक आदि—से कोई सरोकार नहीं होता। अतः अपनी अंतिम परिणति में वह 'संस्कृति' का पर्यायवाची बन जाता है, जिसका उद्देश्य किसी विशेष देश-काल में जीवन की समस्याओं का अच्छा से अच्छा हल ढूंढना होता है।

निस्संदेह दर्शन का उक्त रूप मनुष्य के वैयक्तिक व सांस्कृतिक कांक्ष्यों की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। किंतु, जैसाकि हुस्सर्ल कहता है, एक निश्चयात्मक विज्ञान—सत् व सत्य, ज्ञान व प्रामाणिकता—की दृष्टि से वह बिल्कुल अक्षम है। उसके अनुसार, निश्चित और प्राविधिक वैज्ञानिक दर्शन सदैव एक मानव-कांक्ष्य रहा है और उसकी उपलब्धि एक बौद्धिक व आध्यात्मिक आवश्यकता है; अन्य कुछ भी इसका समकक्ष नहीं हो सकता चाहे वह कितना भी उपयोगी क्यों न हो। विश्व-दृष्टिवाद काल-विशेष व व्यक्ति-समाज-विशेष से संबंधित दृष्टिकोण है, और इसलिए वह उस दर्शन का प्रतिस्पर्धी नहीं बन सकता जिसकी मान्यताएँ व निष्कर्ष अनंत काल का संदर्भ लिये हैं।

तात्पर्य यह है कि विश्वदृष्टिवाद और निश्चित विधिमूलक विज्ञान के रूप में दर्शन अलग-अलग मानव-कांक्ष्य हैं। कौन किसकी ओर झुकता है यह इस पर निर्भर करता है कि व्यक्ति की प्रवृत्ति व्यावहारिक है या सैद्धांतिक। स्पष्ट है कि मूलतः सैद्धांतिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति के लिए विश्वदृष्टिवाद में कोई रुचि नहीं होगी। किंतु सैद्धांतिक प्रवृत्ति के संदर्भ में भी 'दर्शन' एक ऐसा मानव-कांक्ष्य है जिसकी उपलब्धि काल-विशेष में नहीं होगी; यद्यपि यह भी सही है कि आधुनिक वैज्ञानिक मनुष्य की सैद्धांतिक प्रवृत्ति को केवल वैज्ञानिक दर्शन—'फिनामिनालॉजी'—ही किसी सीमा तक संतुष्ट कर पायेगा।

□□□

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२

तत्त्व-विज्ञान और फिनामिनालॉजिकीय विधि

जैसाकि हमने पिछले अध्याय में कहा, हुस्सर्ल दर्शन को एक पूर्णतः निश्चित प्राविधिक विज्ञान (रिगॉरस साइंस) के रूप में देखता है। अब यह द्रष्टव्य है कि इस तरह से विज्ञान के रूप में दर्शन की धारणा दार्शनिक-चिंतन के इतिहास में कोई नई चीज नहीं है। एरिस्टॉटल से आरंभ कर आधुनिक काल में देकार्त, स्पिनोज़ा, कांट आदि चिंतकों ने भी दर्शन की कल्पना इसी तरह के विज्ञान के रूप में की है। वे सब दार्शनिक चिंतन के मूल में किन्हीं स्वयंसिद्ध या स्वतःप्रमाण धारणाओं की खोज करते हैं और कभी-कभी उन धारणाओं के आधार से एक निगमनात्मक तंत्र की स्थापना की चेष्टा भी करते हैं। दर्शन को एक निगमनात्मक तंत्र के रूप में स्थापित करने के पीछे दार्शनिकों की यह मान्यता रही है कि अंक-विद्या अपनी निगमनात्मक प्रणाली के द्वारा ही एक सर्व-निश्चित ज्ञान बन पाती है और इसी प्रणाली के सहारे प्रकृति-विज्ञान में भी निश्चितता आती है। अतः स्वाभाविक ही है कि कई दार्शनिकों ने अपने दार्शनिक-चिंतन को उक्त प्रणाली में ढालने की कोशिश की जिससे उसमें निश्चितता, सार्वभौमिक मान्यता आदि के गुण आ सकें।

किंतु पिछले दार्शनिकों के ये प्रयत्न सफल नहीं हो सके, क्योंकि उनमें प्रकृतिवाद और मनोविज्ञानवाद के दोषों ने घर कर लिया था। पुनः, यद्यपि अंक-विद्या की निगमनात्मक निश्चितता और प्रकृतिविज्ञान की निरीक्षण-परीक्षण वाली प्रामाणिकता के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, यह समझ लेना अत्यंत आवश्यक है कि दार्शनिक-चिंतन में जिस निश्चितता और विधिमूलक प्रामाणिकता की खोज की जाती है वह बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। हुस्सर्ल के अनुसार, न केवल दर्शन में निश्चितता के निकष व विधि का अपना एक विशिष्ट रूप होता है, वरन्

If Mathematics, Natural sciences, & Philosophy are a rational discipline, then why not — all of these are [illegible]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साथ-ही इसी दार्शनिक निश्चितता व विधि-विधान पर हमारा अन्य समस्त ज्ञान भी—अपनी सारी निश्चितता और प्रामाणिकता सहित—आधारित होता है। इसीलिए हुस्सर्ल फिनामिनालॉजी के रूप में दर्शन को एक पूर्णतः निश्चित प्राविधिक विज्ञान कहता है। इस पूर्णतः निश्चित प्राविधिक विज्ञान और साधारण विज्ञानों के बीच यह महत्त्वपूर्ण अंतर है कि जबकि साधारण विज्ञान वस्तुओं के तथ्यात्मक रूप से संबंधित होते हैं, पूर्णतः निश्चित प्राविधिक विज्ञान का लक्ष्य वस्तुओं के सार-तत्त्व की गवेषणा होता है, जो कारणात्मक न होकर विवरणात्मक है। इसी अर्थ में, एक पूर्णतः निश्चित प्राविधिक विज्ञान के रूप में फिनामिनालॉजी एक 'तत्त्वविज्ञान' है और इसी अर्थ में वह "प्रथम" दर्शन भी है।

(क) तथ्य और तत्त्व

तथ्य इंद्रियानुभव के विषय हैं और इंद्रियानुभव हमारे प्राकृतिक ज्ञान का आरंभ व अंत है। 'जगत्' उक्त तथ्यों की ही समग्रता है। यह (जगत्) इंद्रियानुभव के संदर्भ में पूर्व-प्रदत्त और 'यथार्थ', 'सत्', 'आनुभविक' आदि का समानार्थी है। तथ्यपरक विज्ञान—जिसके अंतर्गत न केवल समस्त प्रकृति-विज्ञान वरन् इतिहास, समाजशास्त्र जैसे मानव-विज्ञान भी आते हैं—इस जगत् से ही संबंधित हैं। हमारे अनुभवों में मूलित मूल संज्ञान-क्रिया (कॉग्निशन्) सत् को 'व्यष्टि' रूप में—अर्थात् विशिष्ट देश-काल के संदर्भ वाले अस्तित्व के रूप में उपस्थापित या प्रस्तुत करती है। इस तरह से उपस्थापित व्यष्टित्व को सामान्यतः आकस्मिक कहा जा सकता है: अवश्य वह इस-या-उस रूप में उपस्थापित है, किंतु तत्त्वतः वह और तरह से उपस्थापित हो सकता था, यहाँ तक कि प्राकृतिक कारण-व्यवस्था के विषय में भी यह कहना अर्थहीन नहीं है कि वह तत्त्वतः कुछ और तरह की हो सकती थी[1]। तात्पर्य यह कि, तथ्य का समग्र क्षेत्र अपने-आप में आगंतुक होकर भी तत्त्वतः शून्य नहीं है। तथ्यपरक आगंतुकता में भी एक 'अनिवार्यता'—तात्त्विक सामान्यता—का आधार है। वस्तुतः इस कथन में, कि तत्त्वतः कोई भी तथ्य जो-कुछ है उससे भिन्न हो सकता था, पहले ही यह तात्पर्य निहित है कि 'आगंतुक' की भी एक तात्त्विक सत्ता 'तात्त्विक भाव' है जो अपनी पूर्ण शुद्धता में अवगम्य है। तदनुसार, कोई भी वस्तु-विशेष मात्र एक विशिष्ट, एक 'यह-यहाँ' रूप विशेष व्यष्टि ही नहीं है वरन् 'स्व-स्थित' रूप में, 'इस-इस तरह' संरचित होने से, उसके अपने सत्त्व की अपनी एक सहज विधा भी है। यदि उसके संदर्भ में वे गौण लक्षण हैं जो उसे आगंतुक रूप में विशिष्ट करते हैं तो साथ-ही उसी के संदर्भ में वे प्रमुख तात्त्विक लक्षण भी हैं जो उसे अनिवार्यतः

1- Probability in Natural sciences. ——— 1

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विशिष्ट करते हैं। हुस्सर्ल के कथनानुसार, इन्हीं तात्विक लक्षणों के सहारे यह संभव हो पाता है कि हम वस्तु-विशेषों, तथ्यों, को कोटियों में रख पाते हैं।

इस तरह स्पष्ट है कि 'तथ्य' व 'तत्व' के बीच का संबंध स्वतः तात्त्विक है : एक के आशय में दूसरा तत्त्वतः प्रतिष्ठित है, यद्यपि वे एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् वस्तुएं हैं। तत्त्व वह 'वस्तु' है जो केवल तात्त्विक आन्तर्प्रत्यक्ष (इन्ट्यूशन) से बोध्य है। जिस तरह तथ्य आनुभविक आन्तर्प्रत्यक्ष का प्रदत्त है, उसी तरह तात्त्विक आन्तर्प्रत्यक्ष का प्रदत्त शुद्ध तत्त्व है। उक्त दो आन्तर्प्रत्यक्षों का मूल अंतर यह है कि जहां प्रथम अपनी विषय-वस्तु का प्रतिरूपात्मक (रिप्रज़ेंटेशनल) ग्रहण ही कर पाता है और इसलिए प्रदत्त रूप में उसे पूर्वाभ्युपगत करता है, द्वितीय में स्वतः तत्त्व ही उसकी विषय-वस्तु के रूप मे उसी के स्वरूप के अंतर्गत गृहीत होता है। दूसरे शब्दों में, तत्त्व-ग्रहण आत्मगत होता है जबकि तथ्य-ग्रहण हमेशा परात्मक होता है— यद्यपि स्वयं तत्त्व और तथ्य (सत्त्व और अस्तित्व) के बीच अनिवार्य तात्त्विक संबंध होता है।

स्वाश्रय रूप में गृहीत तत्त्व कोई विशिष्ट विषय या 'विशेष' नहीं होता, इसलिए उसका कोई 'वास्तविक विशेषण' नहीं होता। वस्तु-विशेष के विपरीत, न तो उसमें कोई भाग होते हैं और न ही कोई कारणता। अतः उसका कारणतापरक अध्ययन व्यर्थ है। दूसरे शब्दों में, तत्त्व कोई 'प्राकृतिक भाव' नहीं है, अतः उसका प्रकृतिकरण निरर्थक है। प्रकृति चिर है : वस्तु जो है सो है, वह तादात्म्य रूप में सदैव वही रहती है जो वह है। दूसरी ओर, तत्त्व का रूप प्रतिभास (फिनामिनॉन्) का है; अर्थात् वह 'मानसिक' है, जो सदैव आता-जाता है। उसकी कोई अवधि नहीं है, इसलिए वह कोई एकात्मरूप भाव नहीं है जिसका प्रकृतिविज्ञान की विधि से वस्तु-निष्ठतापरक निश्चयन—जैसे उसका वास्तविक घटकों में विभाजन, वास्तविक विश्लेषण आदि—किया जा सके। तथ्य-रूप प्रकृति-भाव आनुभविक रूप में कथ्य है, जिसमें 'विषय' संबंधित अनुभव से 'बाह्य' होने के कारण स्वतः अनुभव को आभास (अपियरेंस) का रूप प्रदान करता है। दूसरी ओर, तत्त्व-रूप मानसिक भावपरक अनुभव में उसका विषय विचार रूप बन कर प्रस्तुत रहता है।

मानसिक भाव के रूप में तत्त्व की अपनी कोई 'प्रकृति' नहीं होती, यद्यपि उसका एक स्वलक्षण स्वरूप अवश्य होता है। इसे हुस्सर्ल अ-यथार्थ (ईरियल) कहता है— जबकि भौतिक भाव यथार्थ (रियल) है। संज्ञान के विविध रूपों—प्रत्यक्ष, स्मृति, निर्णय आदि—को उनके केवल इस अ-यथार्थ या स्वलक्षण रूप में ही जाना व ग्रहण किया जा सकता है, जो केवल फिनामिनालॉजिकीय विधि द्वारा ही संभव है। इस

Is it, there is any possible core of cognition, in which we cognise fact similar to Reality. Sure, there can not be any differentiation between fact & Reality. I think, that is the Buddhist viewpoint

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञान व अधिग्रहण को किसी अनुभव द्वारा न तो पुष्ट किया जा सकता है और न ही मिटाया जा सकता है। पुनः, चूंकि चेतना या मानसिक क्रिया से संलग्न होकर ही कोई वस्तु विषय रूप में प्रस्तुत हो सकती है, यह स्पष्ट है कि चेतना का तात्त्विक ज्ञान स्वतः वस्तुओं के सही ज्ञान के लिए आवश्यक है।

(ख) तथ्य-विज्ञान व तात्त्विक विज्ञान :

जिस तरह इंद्रियानुभव में भौतिक वस्तुएँ अव्यवहिततया गम्य होती हैं उसी तरह आन्तर्बोध या आंतर्प्रत्यक्ष में तत्त्व अव्यवहिततया बोध्य हैं। इंद्रिय-प्रत्यक्ष भौतिक वस्तुओं के ज्ञान का तथा आंतर्प्रत्यक्ष तत्त्वों के ज्ञान का एकमात्र स्रोत है। जीवंत अनुभव के रूप में दोनों ही प्रकार के प्रत्यक्ष अव्यवहित विषय-प्रदायक होते हैं। किंतु विषय-प्रदान के संदर्भ में इन दोनों के बीच यह मूल अंतर है कि इंद्रिय-प्रत्यक्ष के ग्रहण का रूप अनिवार्यतः प्रतिरूपात्मक (रिप्रेज़ेन्टेशनल) होता है, अर्थात् वह अपने संदर्भ में वस्तु को केवल आभास रूप से प्रस्तुत कर सकता है, जबकि आंतर्प्रत्यक्ष के ग्रहण में उसकी वस्तु आत्मवत् होकर मूर्ततः (प्रतिभास-रूपेण) ग्रहण होती है। यही कारण है कि जहाँ एक ओर इंद्रिय-प्रत्यक्ष पर आधारित तथ्य-विज्ञान में ज्ञान की सीमा संभावना (प्रोबेबिलिटी) पर आकर रुक जाती है वहाँ आंतर्प्रत्यक्ष पर आधारित तत्त्वविज्ञान में ज्ञान अपने स्वरूप व अंतर्वस्तु की एकता से पूर्व अनिवार्यता तक जा पहुँचता है।

किंतु, जैसाकि पहले कहा गया, वस्तुविशेष या तथ्य और तत्त्व के बीच का भेद एकांतिक नहीं है; वे पारस्परिक निषेध का विधान नहीं करते। इसके ठीक विपरीत, उनके बीच एक तात्त्विक या अनिवार्य संबंध है : प्रत्येक वस्तु-विशेष अपने से संबंधित किसी तत्त्वता को व्यंजित करता है और इसी तरह प्रत्येक तत्त्व के संदर्भ में उसके तथ्यपरक उदाहरणों के रूप में संभावित वस्तु-विशेषों का एक वर्ग होता है। तत्त्व व तथ्य के बीच यही अनिवार्य संबंध ही तथ्यात्मक विज्ञानों व तात्त्विक विज्ञानों के बीच पारस्परिकता-संबंध का आधार है। इस 'पारस्परिकता-संबंध' को इस तरह समझा जा सकता है : प्रत्येक तथ्यात्मक विज्ञान का अनिवार्य सैद्धान्तिक आधार तात्त्विक सत्तामीमांसा (ऑन्टालाजी) में ही होता है। जैसे, प्रकृति की सत्तामीमांसा पर सारे प्राकृतिक विज्ञान निर्भर करते हैं, क्योंकि 'प्रकृति' का तात्त्विक सामान्य रूप उक्त सत्तामीमांसा ही हो सकती है जो शुद्ध तात्त्विक विज्ञान है। केवल इस सत्तामीमांसा में ही सब संभाव्य वस्तुओं के क्षेत्र की निरपेक्ष मीमांसा संभव है, जिसका महत्त्व आनुभविक तथ्यों के लिए भी है। प्रकृति-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विज्ञान, जो ग्रानुभविक तथ्यों से सीधा संबंध रखते हैं. ग्रवश्य उस जानकारी से सिद्धांततः व व्यवहारतः मजबूत होते हैं जो प्रकृति को उसकी शुद्ध सत्ता में व्यक्त करती है। यह जानकारी शुद्ध व ग्राद्य ज्ञान की स्थिति है जो कल्याणकारी व लाभकारी दोनों ही है।

तात्त्विक सत्ता के शुद्ध विज्ञान के रूप में ये विज्ञान हैं : शुद्ध तर्क, शुद्ध गणित, शुद्ध काल-विज्ञान, देश-विज्ञान, गति-विज्ञान ग्रादि। ये शुद्ध विज्ञान ग्रपनी विचार-रचना में किसी भी वास्तविक तथ्य की प्रस्तुति या उपस्थापना नहीं करते। उनमें ग्रनुभव के रूप में ग्रनुभव—ग्रर्थात् चेतना का वह रूप जो सत् या ठोस भाव का ग्रधिग्रहण या विधान करे—तार्किक ग्राधारभूमि प्रदान करने वाली क्रिया का स्थान नहीं ले सकता। जैसे, रेखागणितज्ञ द्वारा तख्ते पर खींचे गए त्रिकोण का वास्तविक ग्रनुभव उस सामान्य नियम का ग्राधार नहीं होता जो 'त्रिकोण' के बारे में है। दूसरी ग्रोर, प्रकृति-विज्ञान के सामान्य नियमों का ग्राधार ही वह (व्यक्ति) है जो निरीक्षण-परीक्षण करता है। उसका ग्रनुभव ही वह क्रिया है जो प्रकृति-विज्ञान को ग्राधार प्रदान करती है। इसीलिए "तथ्यात्मक विज्ञान" ग्रौर "ग्रानुभविक विज्ञान" समानार्थी ग्रभिव्यक्तियाँ हैं। इसके विपरीत, रेखागणितज्ञ, जो वास्तविकताग्रों का नहीं वरन् प्रत्ययात्मक संभाव्यताग्रों (ग्राइडिग्रल पॉसिबिलिटीज़) का, वास्तविक सम्बन्धों का नहीं वरन् तात्त्विक सम्बन्धों का ग्रध्ययन करता है ग्रपने ग्राधार के लिए ग्रनुभव के बदले तात्त्विक साक्षात्कार (एसेंश्यल इंट्यूशन) का सहारा लेता है।

किन्तु हमें स्वतः तत्त्व-विज्ञान, जो मूलतः फिनामिनालॉजिकीय दर्शन ही है, ग्रौर तात्त्विक सत्ता से सम्बन्धित शुद्ध गणितशास्त्र जैसे तात्त्विक-विज्ञानों के बीच ग्रंतर करना चाहिये। यह सही है कि इन बाद वाले विज्ञानों का मूल लक्षण उनका पूर्णतः तात्त्विक होना है—ग्रपने ग्राधार व विचार में वे तत्त्वतः ग्रनिवार्य हैं; तथापि यह द्रष्टव्य है कि स्वयं 'तत्त्व', जो उन्हें उक्त तात्त्विकता प्रदान करते हैं, उन प्रत्ययों से भिन्न हैं जो उक्त विज्ञानों के विचारों को मूर्त्त करते हैं। जबकि इन प्रत्ययों को इस तरह स्थिर किया जा सकता है कि वे सभी प्रकार की कालापेक्षा से मुक्त रह सकें, तत्त्वों का काल-संदर्भ ग्रनिवार्य है, क्योंकि चेतना का ग्रनिवार्य रूप ही कालिकता है—जैसाकि हम बाद में स्पष्ट करेंगे। ग्रतः स्पष्ट है कि तत्त्व-विज्ञान में तत्त्व के शुद्ध ज्ञान की जो बात हम कहते हैं वह तात्त्विक सत्ता से सम्बन्धित विज्ञानों में होने वाली ज्ञान की चर्चा से भिन्न है।

(ग) तत्त्व-ज्ञान का रूप

जैसाकि हमने ऊपर कहा, तत्त्व-विज्ञान ग्रौर तात्त्विक-विज्ञान एक ही नहीं हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उनके बीच भेद का आधार तत्त्व-कथन और तात्त्विक-सामान्यता के कथन के बीच का अंतर है। द्रष्टव्य है कि तात्त्विक ज्ञान सम्बन्धी हमारे सभी कथनों की विषय-वस्तु तत्त्व नहीं होती। जैसे शुद्ध रेखागणित में नियामक वाक्यों का सम्बन्ध 'सरल', 'कोण', 'त्रिकोण' आदि तत्त्वों से न होकर उन पर आधारित सामान्यतः स्वीकृत रूपों : 'सरल रेखा', 'विशिष्ट त्रिकोणों के सामान्य रूप' आदि से ही होता है। इन बाद वाले रूपों के सामान्य कथनों में तात्त्विक सामान्यता—अनौपाधिक या शुद्ध सामान्यता—का गुण होता है। किन्तु तात्त्विक सामान्यता में भी तत्त्व ही प्रकाश्य होता है, यद्यपि उदाहृत रूप में, और यही कारण है कि हुस्सर्ल के अनुसार 'तात्त्विक सामान्यता' ज्ञान में वस्तुनिष्ठता-मूलक प्रामाण्य बन पाती है (जो अंततः चेतना-क्रिया में अनिवार्य अभिप्रायात्मकता का ही स्थिर व सामान्य तादात्म्य रूप है)। दूसरी ओर स्वयं 'तत्त्व' गवेषणीय विषय के विविध परिवर्तनों के बीच उसका स्थिर व तदात्म रूप है जिसके संदर्भ में किसी 'उदाहरण' की चर्चा अर्थहीन है।

इसी तरह उन स्वयंसिद्ध प्रतिपत्तियों मान्यताओं (एक्सियम्स) के बारे में भी समझना चाहिये जो अव्यवहित रूप में स्पष्ट हैं और जो सभी निर्णयों की तार्किक आधार-भूमि हैं। (जैसे अ-व्याघात की स्वयंसिद्ध मान्यता)। ये प्रतिपत्तियां, जहां तक इनका संबंध विशिष्ट उदाहरणों से होता है, चेतना-क्रिया में अपनी ग्राह्यता के लिए तत्त्व-ग्राही आन्तर्प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखती हैं। यह तत्त्वग्राही आन्तर्प्रत्यक्ष और वस्तु-प्रस्तावक आंतर्प्रत्यक्ष दोनों ही तत्त्वों के विशिष्टतः उदाहृत होने पर ही निर्भर करते हैं, किंतु यह उदाहरणों के आनुभविक ग्रहण की निर्भरता नहीं है। फिर यह भी द्रष्टव्य है कि तात्त्विक आंतर्प्रत्यक्ष को किसी वास्तविक अनुभव के आधार की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि केवल कल्पनामूलक चेतना ही उक्त प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत कर सकने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार के प्रस्तुतीकरण में जिसके प्रति हम चेतन होते हैं वह चेतना रूप में ही प्रतिभासित होता है, ठोस सत्तापरक रूप में नहीं। जैसे, जब हम तात्त्विक सामान्य-मूलक यह कथन करते हैं कि 'सामान्यतः कोई भी वर्ण सामान्यतः किसी भी स्वाद से भिन्न है' तब हम देखते हैं कि इस कथन में 'वर्ण' तत्त्व और 'स्वाद' तत्त्व के उदाहरण अंतर्बोध्य रूप से प्रस्तुत हैं जिनमें उनका तत्त्व स्वभावतः व्यक्त है। पर चूंकि आंतर्प्रत्यक्ष में कल्पनामूलक आंतर्प्रत्यक्ष व तात्त्विक आंतर्प्रत्यक्ष साथ-साथ उपस्थित हैं, यहाँ तात्त्विक आंतर्प्रत्यक्ष सम्बन्धित तत्त्वों को वस्तुनिष्ठता नहीं प्रदान करता। किंतु इस स्थिति का यह तात्त्विक लक्षण ही है कि हम इससे सहयुक्त उस दृष्टिकोण तक पहुँच सकते हैं जिससे तत्त्व को वस्तुनिष्ठता मिलती है। दृष्टिकोण के परिवर्तन से हमारे कथन में भी परिवर्तन होगा, जिसका नया रूप होगा—"वर्ण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(जाति) तत्त्व, स्वाद (जाति) तत्त्व से भिन्न है"। यहाँ 'तत्त्व' से सीधे संबंध रखने वाले हमारे इस कथन और 'तात्त्विक सामान्यता' के संदर्भ वाले हमारे पूर्वोल्लिखित कथन के बीच एक और महत्त्वपूर्ण अंतर का उल्लेख किया जा सकता है : तत्त्व के कथन कभी किसी वैयक्तिक भाव (उदाहरण) का उपस्थापन नहीं करते जबकि तात्त्विक सामान्यता के कथन उक्त तत्त्व से संदर्भयुक्त होकर भी विशिष्ट भावों के बारे में हो सकते हैं।

पुनः, स्पष्टता की दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक नियमों की जो 'निर्बाध सामान्यता' होती है वह 'तात्त्विक सामान्यता' से मूलतः भिन्न है। "सभी पिंडों का भार होता है" यह वाक्य निस्संदेह किसी निश्चित संभाव्य वस्तु को एक ठोस सत्तावान् वस्तु के रूप में नहीं लेता, किंतु एक प्राकृतिक नियम के रूप में यह अवश्य ठोस सत्तावान् वस्तुओं—वस्तुतः प्रकृति की सभी देश-कालिक वस्तुओं—के बारे में होता है। दूसरी ओर, "सभी भौतिक वस्तुएँ विस्तारवान् हैं" वाक्य में तात्त्विक सामान्यता की प्रामाणिकता है—किन्तु उस अवस्था में हमें उसके उद्देश्य-पद के निर्देश में निहित ठोस सत्ता के आशय पर तूल नहीं देना चाहिये। तब हम उसे वस्तु-मात्र और विस्तार-मात्र का 'अनौपाधिक' सामान्य रूप व्यक्त करने वाला समझ सकते हैं और यह बात इससे पुष्ट हो जाती है कि भौतिक वस्तु-मात्र की मूल-प्रदत्तता का रूप ही वह है जो उक्त कथन में व्यक्त हुआ है। अर्थात् इस तरह के सत्यों से संबंधित दैशिक सत् केवल तथ्यरूप नहीं है वरन् एक तात्त्विक अनिवार्यता है : यह तात्त्विक सामान्यता में उदाहृत वस्तु की पूर्व-निश्चित अनिवार्यता (एपोडाइक्टिक नेसेसिटी) है जो वस्तु-विशेष का तत्त्व प्रकट करने से तात्त्विक भी है। तथ्यरूप में उदाहृत वस्तु-मात्र ही यहाँ यथार्थ है, जो उक्त अनिवार्यता के प्रयोग का आधार है।

अतः स्पष्ट है कि हुस्सर्ल जिसे 'तत्त्व' और उस संदर्भ में 'तात्त्विक सामान्यता' कहता है वह रूढ़ अनुभववादियों द्वारा कथित संवेदमूलक अनुभव पर आधारित (सरल प्रत्ययमूलक) अमूर्त प्रत्यय का रूप नहीं है; और न ही उन्हें उनके चयनात्मक धारण (ध्यान-क्रिया) द्वारा समझा जा सकता है। दूसरी ओर, वह रूढ़ बुद्धिवादियों की तत्त्व-संबंधी उस मान्यता के, जो मूलतः प्लेटो और उसके समर्थकों की रही है, अनुकूल भी नहीं है जो उन्हें यथार्थ, शाश्वत, अपरिवर्त्य तथा वस्तु-विशेषों (उदाहरणों) से सर्वथा पृथक् व परमोत्कृष्ट मानते हैं। हुस्सर्ल के अनुसार, तत्त्व या तात्त्विक सामान्यता का रूप यथार्थता का नहीं है, और न ही वे अपरिवर्त्य हैं या अपने उदाहरणों से सर्वथा पृथक् व परमोत्कृष्ट स्तर हैं। वे अवश्य स्वयमेव 'कुछ' हैं; किंतु इस 'कुछ' का रूप यथार्थता या अस्तित्त्व का नहीं है। वे अ-यथार्थ हैं और उनका सत्य कथन संभव है—और केवल इसी रूप में वे स्वयमेव 'कुछ' हैं। उनके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञान का रूप भी यही है—किसी अन्य तरह से वे नहीं जाने जा सकते। अवश्य वे वस्तु–विशेषों से अनिवार्यतः संबंधित हैं किंतु उन्हें उन वस्तुओं के अनुभव से किसी तरह निःसृत नहीं किया जा सकता : समग्र अनुभव में उनका रूप 'बौद्धिक विधान' का होता है।

(घ) दर्शन का वैज्ञानिक रूप :

हुस्सर्ल के अनुसार, फिनामिनालॉजी के रूप में दर्शन एक पूर्णतः सामान्य तत्त्व-विज्ञान है। वह विशिष्ट तात्त्विक विज्ञानों—जैसे शुद्ध गणितशास्त्र आदि—की तरह तत्त्वों का अध्ययन उनसे उदाहृत विशिष्ट वस्तु–क्षेत्रों या कोटियों की सीमा के अंतर्गत नहीं करता वरन् सत्त्व रूप में उनकी आकारिक प्रस्तुति या सामान्यता के तार्किक स्वरूप—उनकी पूर्वनिश्चित व तार्किक निश्चितता सहित—को ही अपनी प्राविधिक विवेचना के अंतर्गत विवरणात्मक रूप में प्रकट करता है। इस दृष्टि से फिनामिनालॉजी दर्शन उस अनुभव–प्रवाह–गत वैयक्तिक चेतना के स्वरूप व संरचना का विश्लेषण व विवरण उपस्थित करना चाहता है जो मूल या आद्यनियामकता के रूप में हमारे समस्त ज्ञान—तथ्यात्मक तथा तात्त्विक—की जड़ में है।

द्रष्टव्य है कि जो स्वयं सभी ज्ञान की जड़ में है वह किसी पूर्वमान्यता के आधार पर प्रकट नहीं हो सकता। अतः शुद्ध तत्त्व-विज्ञान के रूप में दर्शन का प्राक्कल्पना-रहित होना अनिवार्य है। 'तत्त्व' मात्र एक ही ढंग से प्रकट होता है : प्रतिभास (फिनामिनान्) रूप से, अर्थात् अपने-आप से और अपने-आप में। अपनी अभिव्यक्ति वह स्वयं है। हाइडेगर के अनुसार 'फिनामिनान्' का मूल ग्रीक अर्थ ही यह है : वह जो अपने-आप को अपने-आप में और अपने-आप से प्रदर्शित करता है। अपनी मान्यता वह स्वयं है—समस्त ज्ञान की अव्यवहित स्वयंसिद्ध मान्यता वही है। इसी स्वयंसिद्ध मान्यता के संदर्भ में समस्त उपपत्तियों और निष्पत्तियों के आकारिक संबंध की विवेचना से 'शुद्ध तर्कशास्त्र' संभव होता है जो इसीलिए 'आकारिक सत्तावाद' (फार्मल ओंटोलोजी) कहा गया है। जो इस तरह स्वयंसिद्ध है वह स्पष्ट ही न तो कोई 'प्रत्यय' या 'सिद्धांत' है और न ही कोई 'रचना'। वह पूर्णभावेन पूर्वप्रदत्त सत् है, जिसमें उसकी आद्य-नियामकता विद्यमान है जिस पर आधारित होकर हमारा समस्त ज्ञान प्रामाणिक हो पाता है। अतः हुस्सर्ल उसे 'प्रथम मान्यता' या 'मूल विश्वास' (प्रोटोडॉक्सा) कहता है जो वस्तुतः 'स्व-स्थ बौद्धिकता' (रैशनल इन-इट्सेल्फ) है। अर्थात् वही शुद्ध रूप में स्वयंप्रकाश्य बुद्धि रूप है, और इस दृष्टि से 'लोगोस' के रूप में 'बुद्धि' और 'प्रतिभास' के बीच एक आंतरिक एकता है—जैसाकि हाइडेगर ने बाद में प्रतिपादित किया।

वैयक्तिक चेतना का अनुभव-प्रवाह जिसमें बाह्य संसार प्रति-बिम्बित होता है: और चेतना अपनी अभिव्यक्ति पाती है मानो वह हमारे समस्त ज्ञान की आद्यनियामकता और आधार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उल्लेखनीय है कि जहाँ हुस्सर्ल प्लेटो के 'विश्वास' (डॉक्सा) को स्वयं-प्रकाश्य बौद्धिकता का लक्षण मान कर उसे तात्त्विक ज्ञान का मूल-स्रोत मानता है, वहाँ स्वयं प्लेटो ने उसे उक्त बौद्धिकता से पूर्णतः पृथक् कर केवल आकस्मिक इन्द्रियानुभव के रूप वाला माना है। वस्तुतः यहाँ हुस्सर्ल और प्लेटो के बीच अन्तर का मूल कारण स्वतः 'विश्वास' की धारणा न होकर उस संदर्भ में 'सत्' और 'ज्ञान' का विवेचन प्रतीत होता है : प्रथम (हुस्सर्ल) की विवेचना का उद्देश्य 'सत् का पूर्ण ज्ञान' प्राप्त करना है, जबकि द्वितीय (प्लेटो) की विवेचना का उद्देश्य 'पूर्ण सत् का ज्ञान' प्राप्त करना था। 'पूर्ण ज्ञान' के उद्देश्य वाले हुस्सर्ल के लिए आवश्यक है कि वह जीवंत अनुभव के अन्तर्गत ही सत् का बौद्धिक रूप प्रकट करे—क्योंकि अनुभव-निरपेक्ष बौद्धिकता से सत् के जिस ज्ञान की संभावना होती है वह अपने-आप में मात्र आकारिक है, और जैसाकि कांट ने विस्तारपूर्वक बताया, इस आकारिकता को, बिना उसके अनुभव-संदर्भ के, ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। दूसरी ओर, 'पूर्ण सत्' को एक बार अपने चिंतन का उद्देश्य बना लेने के बाद प्लेटो यह स्वीकार करने को बाध्य होता है कि आकस्मिकता के लक्षण वाला अनुभव उक्त सत् का ज्ञान नहीं कहला सकता, चाहे फिर हम मानव-मानसिकता को उसी के आधार पर आगे शुद्ध बौद्धिकता की ओर बढ़ते हुए देखें।

वस्तुस्थिति जो हो, हुस्सर्ल का यह मत स्पष्ट है कि दर्शन को सभी प्रकार की पूर्व मान्यताओं से बचना है और इसके लिए आवश्यक है कि दार्शनिक चिंतन का आरम्भ उक्त आद्य-नियामक 'प्रथम विश्वास' से ही हो। यह केवल तभी सम्भव होगा जब पाश्चात्य बौद्धिकता पर जो पारम्परिक बाह्यावरण पड़ा है उसे दूर किया जा सके और उसे पुनः सही सैद्धान्तिक मार्ग में प्रतिष्ठित किया जा सके। अतः यहाँ सवाल पिछले दर्शन से कुछ सीखने का नहीं है। वैसे भी, जैसाकि कांट ने कहा—कोई दार्शनिक सीख नहीं सकता, वह केवल दार्शनिक चिंतन कर सकता है। और इस दार्शनिक चिंतन का लक्ष्य है—वस्तुएँ स्वयं में जैसी हैं उन तक पहुँचना। वस्तुओं तक इस तरह पहुँचने का एकमात्र रास्ता है—अन्तर्दृष्टि। इसे ही 'समस्त नियमों के नियम' अर्थात् 'आद्य–नियामकता' के रूप में हुस्सर्ल ने इस तरह व्यक्त किया है—"आद्य प्रदत्त मूलक आंतरप्रत्यक्ष ही ज्ञान का आधिकारिक स्रोत है, जो कुछ भी अपने-आप को आद्यतः (अपने असंस्कृत स्वरूप में) आंतरप्रत्यक्ष में प्रस्तुत करता है उसे ठीक उसी रूप में स्वीकारना आवश्यक है जैसाकि वह अपने-आप को उपस्थापित करता है, यद्यपि उन्हीं सीमाओं के अन्दर जिनमें वह तब अपने-आप को प्रस्तुत करता है"। (आइडियाज़ : २४)

उसी के स्वरूप और संरचना का विवरण फिनोमेनोलॉजी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस तरह हम देखते हैं कि अपने उद्देश्य की दृष्टि से फिनामिनालॉजी—तत्त्व-विज्ञान के रूप में दर्शन—अपने-आप को एक सर्वाधिक उच्चाकांक्षायुक्त और निश्चयात्मक विज्ञान के रूप में स्थापित करता है। वह मानव-संदर्भ वाले शुद्ध और पूर्ण ज्ञान के साथ-साथ मानव-मनस् की शुद्ध व पूर्ण संकल्प-शक्ति तथा अमिट आकांक्षा व जिज्ञासा को भी अभिव्यक्ति देता है। जिस तरह वह प्रत्येक मानव-संदर्भ में आत्म-निष्ठता को अनिवार्य व आधारभूत मानता है उसी तरह वह मनुष्य द्वारा सत् के अ-तथ्यात्मक और आनुभविक-विज्ञान-पूर्वग अधिग्रहण के लिए केवल एक मार्ग निश्चित करता है—आंतरीकरण (इंटेरियॉराइजेशन)। इस 'आंतरीकरण की विधि' से सत् का ग्रहण और सत्य का प्रमाणीकरण फिनामिनालॉजी की विशेषता है। और इस विशिष्टता के ठीक-ठीक अवगमन के लिए फिनामिनालॉजिकीय विधि को समझना आवश्यक है।

(ङ) दार्शनिक विधि की आवश्यकता

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि हुस्सर्ल अपनी दार्शनिक धारणाओं और निष्कर्षों के संदर्भ में एक स्पष्ट और तर्कसम्मत विधि की आवश्यकता महसूस करता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि वह इस विधि की रूपरेखा तथा अनुभव और अवगमन का व्यापक विवरण दे सकने में सफल हुआ है—केवल इसी सफलता के आधार पर हुस्सर्ल दर्शन-शास्त्र के इतिहास में अपने लिए एक विशिष्ट स्थान पा सका है।

हुस्सर्ल की उक्त विशिष्ट फिनामिनालॉजिकीय विधि की ठीक-ठीक समझ के लिए यह जानना आवश्यक है कि उसे उस विधि की आवश्यकता क्यों होती है? किस विशिष्ट दार्शनिक प्रश्न का उत्तर पाने के लिए उसे उक्त विशिष्ट विधि की आवश्यकता होती है? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर हम पिछले पृष्ठों में दे चुके हैं, परन्तु यहाँ उसकी पुनरुक्ति केवल एक वाक्य में करना उचित ही होगा कि हुस्सर्ल के मतानुसार समस्त दार्शनिक कर्म का लक्ष्य इस मूल समस्या का ही निदान करना है—ज्ञान की वह कौन-सी अवस्था है जिसमें उसकी अन्तर्वस्तु की भावपरता और उसके स्वरूप की निश्चितता स्वतः प्रमाणित हों? और इस समस्या के निदान रूप में वह इस निष्कर्ष तक पहुँचता है : ज्ञान की ऐसी स्थिति केवल वह हो सकती है जिसमें प्लेटो के तात्त्विक आकार (एसेंश्यल फोर्म) की आद्य भावपरता तथा देकार्त प्रतिपादित चेतना की आत्म-असंदिग्धता* परस्पर अवियोज्य रूप में मिले हों।

* प्रागनुभविक निश्चितता — Central Problem of Philosophy.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परन्तु इस तरह के ज्ञान की सम्भावना के बारे में क्या कहा जा सकता है ? केवल यह कह कर तो संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता कि संभवतः इस तरह का कोई ज्ञान है—क्योंकि दर्शन में संतुष्टि का अर्थ अनिवार्यतः बौद्धिक संतुष्टि है । और बौद्धिक संतुष्टि के लिए कम-से-कम दो पूर्वापेक्षाएं हैं : एक, कि संतोषप्रद स्थिति को किसी तरह के व्याघात का डर नहीं हो, जो तभी संभव है जब उक्त स्थिति को सभी तरह से जाँच-परख लिया गया हो ; दो, कि संतोषप्रद स्थिति की प्रस्तुति किसी यादृच्छिक ढंग से नहीं हुई है, अर्थात् अपने उत्स में वह समस्त शंकाओं से परे है । द्रष्टव्य है कि प्लेटो का आकार-मूलक शुद्ध किन्तु अनिवार्य भाववाद (सत्तावाद) बौद्धिक संतुष्टि की उक्त द्वितीय शर्त को पूरी कर सकने में असफल रहता है । जीवंत अनुभव से तत्त्वतः पृथक् होकर प्लेटो द्वारा प्रतिपादित शुद्ध भाव अपना आद्याधार ही खो बैठते हैं । जैसाकि बाद में एरिस्टॉटल ने कहा, बौद्धिक-ग्राह्यता में सारतः उपस्थापित होकर भी न तो वे शुद्धतः द्रव्यात्मक बन पाते हैं और न ही शुद्धतः आकारिक । संभवतः एरिस्टॉटल की इसी आलोचना के आधार पर हुस्सर्ल तुरन्त यह देख लेता है कि यदि प्लेटो के शुद्ध आकारों को जीवंत अनुभव में ही आद्यतः प्रस्तुत रूप माना जाय तो उनकी द्रव्यात्मकता व आकारिकता दोनों की ही रक्षा की जा सकती है ।

अब हुस्सर्ल की समस्या है कि प्लेटो के 'आकारों' को जीवंत अनुभव में ही किस तरह प्रस्तुत माना जाय । इस समस्या के संदर्भ में ही देकार्त का यह मत, कि चेतना में एक असदिग्ध निश्चितता है, महत्त्वपूर्ण हो उठता है । हुस्सर्ल देखता है कि उक्त मत अपने-आप में समस्त व्याघातों से मुक्त है—यद्यपि स्वयं देकार्त ने उससे आत्म व विषय की द्रव्यता-मूलक अपनी धारणा को संयुक्त कर उसे एक ग़लत दिशा दे दी । हुस्सर्ल का विश्वास है कि देकार्त अपनी इस धारणा के आधार पर, कि सर्व-भावेन निश्चितता केवल चेतना में है, बहुत जल्दी इस निष्कर्ष पर कूद जाता है कि उक्त निश्चतता के संदर्भ में चेतना आत्म की द्रव्यता का ही प्रकाश है; जबकि दार्शनिक दृष्टिकोण की अपेक्षा यह है कि उक्त सर्वभावेन या तात्त्विक निश्चितता का स्वरूप स्पष्ट व निश्चित किया जाय । दर्शन के इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए हुस्सर्ल अग्रसर होता है; और इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात वह यह देखता है कि चेतना में जो-कुछ भी आकस्मिक है उसका प्राविधिक निरसन किया जा सकता है । फिर उक्त दार्शनिक लक्ष्य के संदर्भ में ही वह उस विशिष्ट दार्शनिक विधि की विस्तृत विवेचना करता है जिसे हम 'फिनामिनालॉजिकीय विधि' कहते हैं । इस विधि की सम्पूर्ण सक्रियता में ही प्रथम बार यह प्रकट होता है कि शुद्ध ज्ञान की अंतर्वस्तु व आकारिकता के बीच एक आद्य-सम्बन्ध है और वही तत्त्व-विज्ञान के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्तर्गत ज्ञान की अनिवार्य वस्तुनिष्ठता व पूर्ण निश्चितता का आधार है।

(च) अलिप्तता की विधि (अॅपॉखे) :

फिनामिनालॉजिकीय विधि अपनी एक महत्त्वपूर्ण परिणति में निषेधात्मक है : वह गवेषणीय विषय-वस्तु से उसकी आकस्मिकता या तथ्यात्मकता का निरास करती है, क्योंकि उस पर संदेह किया जा सकता है । किसी भी वस्तु में आकस्मिकता का गुण उसे संदेहास्पद बना देता है और इसलिए उस वस्तु का तात्त्विक स्वरूप उस रूप में प्रकट नहीं किया जा सकता। अतः हुस्सर्ल इस विधि का प्रयोग किसी भी गवेषणीय वस्तु की आकस्मिकता या उसके तथ्यपरक रूप के निरास के लिए करता है। निस्संदेह इससे उस वस्तु के संदर्भ में स्वतः सत्ता या अस्तित्व का निरास नहीं होता : केवल अपनी परात्मता में उसकी सत्ता का 'कोष्ठकीकरण' हो जाता है। अर्थात् उसके संदर्भ में या उसके आधार से किसी प्रकार का निर्णय नहीं लिया जाता। इसीलिए हुस्सर्ल उक्त 'कोष्ठकीकरण' को 'असंबंधन' (डिस्कनेक्शन) भी कहता है।

'अॅपॉखे' मूलतः एक ग्रीक शब्द है जिसे अपनी भाषा में हम 'अलिप्तता' या 'अलगाव' कह सकते हैं । विधि के रूप में यह उक्त 'कोष्ठकीकरण' या 'असंबंधन' का ही सामान्य रूप है—अर्थात् विधिमूलक रूप में इसका अर्थ है निर्णय न लेने की एक विशेष विधा । ऐतिहासिक दृष्टि से इसका आधार देकार्त की संदेह-विधि है, यद्यपि हुस्सर्ल के अनुसार अपनी क्रियान्वयता में यह देकार्त की संदेह-विधि से मूलतः भिन्न है। देकार्त की संदेह-विधि के अन्तर्गत स्वयं सत्ता या अस्तित्व पर ही संदेह उठाया जा सकता है। किन्तु फिनामिनालॉजी की दृष्टि से ऐसा करना एक पूर्वाग्रह-युक्त निर्णय है, जबकि वह किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से मुक्त रहना चाहता है। पुनः, हुस्सर्ल की दृष्टि में सत्ता का प्रश्न कोई महत्त्व भी नहीं रखता, क्योंकि उसका तात्त्विकता के प्रश्न से कोई संबंध नहीं है, और जैसाकि हमने पहले कहा, तात्त्विकता का प्रश्न शुद्ध या स्वयंसिद्ध निश्चितता का प्रश्न है । यह अवश्य है कि देकार्त अपनी संदेह-विधि का उपयोग निश्चितता की खोज के संदर्भ में करता है, किन्तु जैसे ही वह एक निश्चितता तक पहुँचता है उसकी संदेह-विधि की सक्रियता व उपयोगिता समाप्त हो जाती है। दूसरी ओर, हुस्सर्ल की अलिप्तता-विधि उसके समूचे दार्शनिक चिन्तन में सदैव सक्रिय बनी रहती है । शायद इसका कारण यह है कि अलिप्तता स्वतः संदेह का निरास करने वाली है, क्योंकि वह उन समस्त विषय-वस्तुओं का निरास करने में सक्षम होती है जिन पर संदेह की सारी सम्भावना आधारित होती है। अतः स्पष्ट है कि जबतक 'अलिप्तता' की विधि सक्रिय होती है आकस्मिकता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के लिए कोई स्थान बच नहीं पाता। दूसरे शब्दों में, अलिप्तता की सक्रियता का अर्थ ही चेतना में अनिवार्यता और तात्त्विकता की उपस्थिति है। पुनः, यह भी द्रष्टव्य है कि हुस्सर्ल की दृष्टि में संदेह-क्रिया भी संज्ञानात्मक ही है और इसीलिए उससे किसी अभाव का निरूपण या 'अस्तित्त्व का प्रत्याख्यान' किया ही नहीं जा सकता। प्रतिभासात्मक संदेह-क्रिया के स्वरूप के बारे में निश्चिततः केवल यही कहा जा सकता है कि : प्रथम, हम अपने संदेह के प्रयास में स्वतंत्र हैं; द्वितीय, संदेह अपने विषयभूत अस्तित्त्व को प्रभावित न कर केवल उसे चेतना-संदर्भ से निलंबित या स्थगित कर सकता है। यहां उपर्युक्त 'प्रथम' के संदर्भ में फिनामिनालॉजी के एक मुख्य सिद्धान्त—कि संभाव्यता या पूर्ण अस्तित्त्व-स्वतन्त्रता समस्त वास्तविकता की पूर्वगामी है—की झलक मिलती है, जबकि 'द्वितीय' संदर्भ में चेतना और तत्त्व के स्वरूप-सम्बन्ध की आवश्यक पुष्टि होती है।

अतः स्पष्ट है कि अपने निजरूप में मूलतः निषेधात्मक होकर भी, अर्थात् स्वतः तत्त्व-ज्ञान (नॉलेज ऑव एसेंसिज़) या उसका कोई भाग न होते हुए भी, अलिप्तता-विधि की सक्रियता तत्त्व-ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करती है। उसकी सक्रियता तत्त्व-ज्ञान के लिए आवश्यक है। किन्तु जिस तत्त्व-ज्ञान के लक्ष्य को ध्यान में रख कर उसकी उद्भावना होती है उसकी संपूर्ति के लिए आवश्यक है कि उसके समकक्ष कोई एक विधानात्मक विधि भी हो। फिनामिनालॉजिकीय विधि के अन्तर्गत यह विधि अपचय-विधि (मैथड आव रिडक्शन) है। यहाँ 'अपचय' (रिडक्शॅन) का अर्थ 'निगमन' (डिडक्शन) नहीं हैं वरन् यह अलिप्तता की सतत सक्रियता के फलस्वरूप प्राप्त शोधित तात्त्विक अवशेष में उत्तरोत्तर स्पष्टता प्राप्त करने के लिये प्रयुक्त होने वाली विधि है। यहाँ हुस्सर्ल का यह मत उल्लेखनीय है कि फिनामिनालॉजी एकान्त आत्मनिष्ठतावाद या अहम्मात्रवाद से इसीलिए वच निकलने में सफल होती है क्योंकि उसमें स्वतः 'आत्म' का उसके प्रतिभासरूप में अपचय हो जाता है। और फिर इसी आधार पर वह देकार्त की आलोचना करता हुआ कहता है कि वह 'संज्ञान' से द्रव्य-रूप 'आत्म' को निगमित कर एक अनावश्यक प्रतिपादन की उलझन में फँस जाता है, जबकि स्वतः 'संज्ञान' में ही 'आत्म' का तात्त्विक रूप स्पष्ट है।

(छ) अपचय-विधि :

यह एक संश्लिष्ट विधि है जिसका ठीक-ठीक रूप केवल अनुगामी अध्यायों के प्रकाश में ही स्पष्ट हो सकेगा। यहां हम केवल उसका अत्यन्त सामान्य रूप ही संक्षेप में स्पष्ट करेंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपचय-विधि के क्रमिक चरणों के बीच भेद किया जा सकता है, यद्यपि स्वयं हुस्सर्ल उन्हें इस तरह से पृथक्कृत नहीं मानता। ये चरण क्रमशः ये हैं : मनोवैज्ञानिक अपचय, तात्त्विक अपचय, सप्रत्ययन, सामान्यीकरण, विधान और कालिकता। हम इसी क्रम से इन्हें नीचे स्पष्ट करेंगे।

(१) **मनोवैज्ञानिक अपचय:**—यह फिनामिनालॉजिकीय विधि के अन्तर्गत मनोविज्ञानवाद के उच्छेद का चरण है और इसीलिए यह चेतना व प्रत्ययों के प्रकृतिकरण को रोकता है। हुस्सर्ल के अनुसार, जब चेतना के तत्त्व को उसके तथ्यमूलक ठोसपन से अलग किया जाता है केवल तभी घटनापरक आकस्मिकता प्रदर्शित करने वाले आत्म की सापेक्षता से बचने की संभावना प्रकट होती है। द्रष्टव्य है कि जहाँ आत्म के विविध अनुभव और उन पर आधारित विविध, परस्पर विपरीत निर्णय उपस्थित हैं वहाँ संदेह तो उपस्थित रहेगा ही; और उनके संदर्भ में किसी सार्वभौमिक प्रामाण्य का निकष ढूंढ़ निकालने की चेष्टा करना भी व्यर्थ होगा। अतः स्पष्ट है कि विविध आत्म-चेतनाओं में किसी प्लेतोई एकता से ही उक्त संदेह का निराकरण होगा और फलस्वरूप चेतना का तत्त्व स्पष्ट हो सकेगा।

(२) **तात्त्विक अपचय:**—यह आत्म के शुद्धीकरण की द्वितीय प्राविधिक स्थिति है। जबकि प्रथम चरण स्वतः 'संज्ञान' का ही शुद्धीकरण है, इस द्वितीय चरण को 'संज्ञान-उपादान' का शुद्धीकरण कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत हमें 'आंतरिकता' की एक नई धारणा मिलती है। हुस्सर्ल की मनोविज्ञानवाद की एक आलोचना यह है कि उसमें आंतरिकता का आशय वस्तुनिष्ठता का मानसिक-प्रक्रिया से सम्बन्धित होना मात्र है। किन्तु वस्तुनिष्ठतामूलक संज्ञान-उपादान न तो स्वतंत्र या बाह्य रूप में 'कुछ' है और न ही वह मनस् की प्रक्रिया मात्र है (जैसाकि लॉक, मिल या ह्यूम ने समझा)। उसका अपना एक 'सत्त्व' है जो शुद्ध चेतना के आन्तरिक वस्तुत्व पक्ष के स्वरूप का है। दूसरे शब्दों में, 'आत्म' और 'वस्तुनिष्ठता' के बीच तात्त्विक एकता है।

(३) **संप्रत्ययन:**—यह आत्म के शुद्ध रूप को अभिव्यक्ति देता है। चूंकि शुद्ध आत्म के विषय में कुछ भी कहना उसे वस्तु-रूप देना है, हुस्सर्ल उसे उक्त दो क्रमिक अपचयों का 'अवशेष' मानता है। 'वस्तु' निस्संदेह एक सापेक्ष पद है—वह सदैव किसी आत्म के लिए ही वस्तु-रूप है। किन्तु तब वस्तु की सापेक्षता आत्म की उपस्थिति को अनिवार्य बना देती है, यद्यपि स्वतः आत्म वस्तु-रूप से उपस्थित नहीं हो सकता। अतः हुस्सर्ल उसे उक्त 'अवशेष' रूप मानने को बाध्य होता है। यह आत्म का निषेधात्मक विवरण है। अब प्रश्न है कि यदि आत्म वस्तु-रूप नहीं हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता तो उसका 'ज्ञान' कैसे हो ? स्पष्ट है कि यह तभी संभव है जब आत्म स्वयप्रकाश चेतना रूप हो : अर्थात् चेतना-क्रिया का आत्म-पक्ष-रूप (जिसका दूसरा अनिवार्य पक्ष वस्तु-पक्ष है) । इस तरह यह द्रव्य-रूप आत्म नहीं है । यह देकार्त द्वारा "विचार" से अनुमानित "हूँ" नहीं है; विचार चेतना में अंतर्भूत वह आत्म ही है जिसके प्रति मैं अव्यवहित रूप में चेतन है ।

(४) **सामान्यीकरण:**—किन्तु उक्त शुद्ध चेतना-रूप आत्म को चिन्तन का विषय बना कर हम उसे वस्तुरूप प्रदान कर सकते हैं : यह आत्म का अपना तात्त्विक रूप जानने के लिए अनिवार्य है । ऐसा करने में हम फिनामिनालॉजिकीय अपचय के चतुर्थ चरण में पहुँचते हैं । इसके अन्तर्गत संप्रत्ययन में प्राप्त शुद्ध व्यक्ति-रूप आत्म को वस्तु-रूप प्रदान कर उसका सामान्यीकरण किया जाता है । ज्ञातव्य है कि 'वस्तुनिष्ठता' का अर्थ ही 'सामान्य' है, जो पारंपरिक दर्शन-शास्त्र में भी स्वीकृत है ।

(५) **विधान:**—उक्त सामान्यीकृत आत्म का शुद्ध परात्मक अहम् का रूप फिनामिनालॉजिकीय अपचय के इस पंचम चरण में प्राप्त होता है । चूँकि हुस्सर्ल के अनुसार एकमात्र प्रामाणिकता चेतना के लिए प्रदत्त हो सकने में है, वह अन्ततः मात्र उस अपेक्षात्मकता को स्वाकार करने को बाध्य होता है जो एक वस्तुनिष्ठता-मूलक सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । वह चेतना का एक अ-वास्तविक आंतरिक पक्ष है, मात्र मानसिक सम्बन्ध नहीं । चूंकि, हुस्सर्ल के अनुमार, स्वयं चेतना संप्रत्यय-रूप में अ-वास्तविक है, उसका उक्त पक्ष भी अ-वास्तविक ही होगा । परिणामतः वह अपेक्षात्मकता एक ऐसी आंतरिक वस्तु के रूप में प्रकट होती है जो न तो किसी वास्तविक वस्तु का प्रतिरूप है और न ही चेतना द्वारा प्रक्षिप्त कोई विधा । वह तो स्वयं चेतना में संरचित होती है । यह संरचना या विधान न तो कोई उत्पाद है, न कोई अनुकृति है और न ही वह अन्वेषित है । वह आत्म की परात्मक क्रिया है । इस तरह की क्रिया वाले आत्म को जानना उस आत्म को जानना है जो अपनी आपेक्षिक वस्तुओं से अतिक्राम्यतः संबंधित है । अपेक्षा को जानना ही वस्तुनिष्ठापूर्वक जानना है, क्योंकि वस्तुनिष्ठमूलता का अपेक्षामूलता अर्थ ही है । किंतु स्पष्ट है कि यह पर्याप्त नहीं है क्योंकि इस रूप में तो केवल अपेक्षात्मकता ही ज्ञातव्य है जिससे 'ज्ञान' का अर्थ नहीं निकलता । अतः अपेक्षात्मकता को अधिक सूक्ष्मता से परखना होगा—यही सूक्ष्म परख अहम् का ज्ञान है । परात्मक अहम् को जानने से ही वस्तुमूलता को जाना जाता है । वस्तु-ज्ञान का आधार आत्म-ज्ञान ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है, क्योंकि आत्म-ज्ञान का तात्त्विक अर्थ ही उसे किसी निश्चित वस्तु से संबंधित रूप में जानना है। अतः यह परात्मक आत्म वस्तुनिष्ठता का प्रागनुभविक स्रोत है—न केवल बुद्धि के आकारिक वस्तुत्व का (जैसाकि कांट में वह है) वरन् स्वतः अनुभव की वस्तुनिष्ठता का भी, क्योंकि प्रत्येक वस्तु परात्मक अहम् में ही अनिवार्यतः अपेक्षित होकर संरचित होती है।

(घ) कालिकता—अंततः स्वतः परात्मक आत्म की संरचना का प्रश्न है जो हुस्सर्ल के अनुसार कालिक है। वस्तुनिष्ठता के प्रागनुभविक स्रोत के रूप में परात्मक अहम् अपरिवर्तनीय न होकर निरन्तर परिवर्तनशील है। आत्म रूप में उसका अपना एक इतिहास है और अपना एक इतिहास-बोध है। उसके इतिहास के अन्तर्गत वे समस्त वस्तुएँ हैं जो उससे संदर्भ-चेतना के रूप में संबंधित हैं और उसे समृद्ध करती हैं; और इस तरह वह निरंतर विकासमान रहता है। वह निरंतर आत्म-रूप में संरचित है : निरंतर संरचना या विधान के अभाव में आत्म आत्म नहीं रह जाता। इस तरह अपने अंतिम अपचयित रूप में आत्म एक 'शुद्ध चेतना-प्रवाह' है—वह अनिवार्यतः कालिक आत्म है, यद्यपि क्षणिक नहीं, क्योंकि उसका अपना एक अनिवार्य अभिन्न रूप है, जैसाकि आगे स्पष्ट होगा।

(ज) तात्त्विक अंतर्बोध (आइडेटिक इन्ट्यूशन) :

फिनामिनालॉजिकीय विधि की एक और पूरक प्राविधिक प्रणाली तात्त्विक अंतर्बोध की है, जिसमें न केवल 'वस्तुओं' को वरन् घटनाओं, प्रक्रियाओं, और स्वतः अंतर्बोधों को सीधे "देखा" जा सकता है। किंतु इस तरह 'देखने' की विधिमूलक निश्चितता के लिए आवश्यक है कि न केवल संबंधित वस्तु का 'तत्त्व' देखा जाय वरन् यह भी कि उसे और किसी तरह से नहीं देखा जा सकता। अतः जैसाकि मेक्स शिलर कहता है, एक फिनामिनालॉजिकीय दार्शनिक बड़े धैर्यपूर्वक यह स्वीकार कर सकता है कि सब उससे असहमत हैं; वह केवल अपने स्वयं के तात्त्विक अंतर्बोध से पूर्णतः आश्वस्त रह सकता है, क्योंकि वह जानता है कि अन्य सब ग़लत हैं।

किंतु विधि की ही दृष्टि से, गेब्रियल मार्सेल उक्त 'तात्त्विक अंतर्बोध' को पूर्णतः संतोषजनक नहीं मानता, वह उसके अतिरिक्त प्लेतोई 'संवाद' (डायलॉग) को भी दार्शनिक-चिंतन के लिए अपरिहार्य समझता है। उसके अनुसार, वैयक्तिक अंतर्बोध अपने-आप में अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है—उसे अन्य व्यक्तियों के वैसे ही अंतर्बोधों से संयुक्त करना आवश्यक है। बौद्धिक संभाषण द्वारा, अपने द्वारा किये गये अंतर्बोध की ही तरह, अन्य व्यक्तियों को भी उनके अपने अनुभवों के आधार पर उसी अंतर्बोध तक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहुँचने में मदद की जा सकती है। इसी तरह यह भी संभव है कि दूसरों के अंतर्बोध के प्रकाश में स्वयं हमारे अपने अंतर्बोध का उचित संशोधन हो सके। इस तरह एक प्रकार का "सामाजिक" अंतर्बोध उत्पन्न होता है जिसे निस्संदेह सत्य के अधिक निकट होना चाहिए, क्योंकि मनुष्य दूसरों से सहयोग में ही अधिक सही तौर पर एक मनुष्य है। फिर, अंतर्बोध की इस धारणा में न केवल वर्तमान मानव-समाज का वरन् भूतकालिक मानव-समाज का अभिमत भी सम्मिलित होता है। इस धारणा का आभास हुस्सर्ल के विचारों में भी मिलता है, विशेषकर उसके बाद के लेखन में, जहाँ वह परात्मक प्रागनुभविक आत्म को ठोस रूप में ऐतिहासिक तथा अनेकात्मक मानता है। किंतु इस धारणा का कोई महत्त्वपूर्ण उपयोग स्वयं हुस्सर्ल नहीं करता।

अंत में, इसका उल्लेख कर देना आवश्यक है कि फिनामिनालॉजिकीय विधि के अंतर्गत उक्त अलिप्तता, अन्तर्भाव और तात्त्विक अंतर्बोध की प्रणालियाँ ज्ञान की शुद्धि और विनिश्चयन की क्रमिक पद्धतियाँ नहीं हैं। वे सब केवल एक समग्र प्रक्रिया, जिसे 'विषयापेक्षात्मक विधान' कहा गया है, के विविध परस्पराश्रित पहलू हैं। स्वतः 'विषयापेक्षात्मक विधान' की धारणा इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह ज्ञान को पूर्णतः आंतरिक बनाती है जिससे वह पूर्णतः साक्ष्य योग्य होकर आत्म के लिए पूर्णतः अनिवार्य हो जाता है। इसी से ज्ञान को सार्वभौम वस्तुनिष्ठता का प्रामाण्य भी मिलता है। समग्र फिनामिनालॉजिकीय विधि का उद्देश्य तत्त्व का अंतर्ज्ञान है; और इस अंतर्ज्ञान के विषय में कोई मात्र-काल्पनिकता, अज्ञानि या रहस्यमयता नहीं है। इसके विपरीत, वह एक पूर्णतः नियंत्रित विधि का ही अंश है और इसीलिए उचित है।

□□□

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३

संज्ञान और वस्तुनिष्ठता का प्रश्न

परंपरा प्राप्त दार्शनिक-चिंतन में आत्मनिष्ठतामूलक मानसिकता और वस्तुनिष्ठतामूलक बाह्य जगत् के परस्पर संबंध को मूलतः तीन प्रकार से देखा गया है : (अ) 'मानसिक' और 'भौतिक' पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं और उनके पृथक्-पृथक् अवच्छेदक लक्षण हैं—जैसे देकार्त के अनुसार क्रमशः विचार और विस्तार। (ब) 'भौतिक' का अन्तर्भाव 'मानसिक' में होता है, अतः मूल-सत्ता का रूप मानसिकता का लक्षण वाला है—जैसे बर्कले के अनुसार 'सत्' का तत्त्व उसके प्रत्यक्षानुभव में निहित है। (स) 'मानसिक' का अंतर्भाव 'भौतिक' में होता है, अतः मूल-सत्ता का रूप भौतिकता-लक्षण है—जैसे आधुनिक तार्किक अनुभववादियों व व्यवहारवादियों के अनुसार।

फिनामिनालॉजिकीय दार्शनिक चिंतनधारा में उक्त तीनों धारणाएं अमान्य हैं। जबकि एक ओर उक्त (अ) में 'मानसिक' व 'भौतिक' को भाव की एक ही कोटि—सत्ता—में रखने से एक मूल प्राविधिक दोष पैदा हुआ है, वहाँ दूसरी ओर (ब) और (स) में 'भाव' और 'सत्ता' के अभेद के कारण एक ग़लत प्राक्कल्पना दार्शनिक-चिंतन की आधार-भूमि के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। हाइडेगर का मत है कि मानसिकता और जगत् के परस्पर संबंध के विषय में उक्त ग़लत मान्यताएँ अमूर्त-प्रत्ययात्मकता (एब्स्ट्रेक्शन) के द्वारा संभव हो पाती हैं जिसका सही विधिमूलक रूप कोटिपरक (केटेगॉरियल) है, और जो केवल मनसेतर वस्तुओं पर प्रयोगार्ह है—स्वतः मानसिकता पर उसका प्रयोग केवल भ्रमवश होता है। यह सत्य है कि मानसिकता का 'भाव' (सत्ता) भौतिकता के 'भाव' से पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है, किंतु तब यही बात स्वतः भौतिक 'भाव' के बारे में भी लागू होती है : दोनों भाव एक-दूसरे से पृथक् होकर भी अविभाज्यतः सहयुक्त हैं। किंतु जब 'मानसिक' को भी कोटिपरक रूप देकर उसका साधारणीकरण कर दिया जाता है तब उसकी अनिवार्य आत्मनिष्ठता या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विशिष्ट वैदक्तिकता का तिरोभाव हो जाता है। अतः स्वाभाविक है कि अमूर्त प्रत्ययात्मकता, या उसी को पूर्वमान्य करने वाली मान्यताओं या प्राक्कल्पनाओं से दार्शनिक-चिंतन का आरंभ करने का विरोध फिनामिनालॉजी करती है। वस्तुतः हुस्सर्ल का मत है कि पारंपरिक दार्शनिक-चिंतन के पथ-भ्रष्ट होने का एक प्रमुख कारण उस जीवंत अनुभव-जगत् (लेब्रेन्स्वेल्ट) से भटकना है जो मानसिक व भौतिक का अनिवार्य संबंध प्रकट करता है। तदनुसार, दर्शन का सही आरभ, वस्तुतः ज्ञान-मात्र का ही एकमात्र सही आरभ, स्वतः जीवन या मानव-प्राण का ठोस या जीवंत रूप है। जीवन अपने-आप से, अर्थात् अपने निज-रूप में स्थित होकर, जगत् से संबंधित है—अपने समस्त सैद्धांतिक दृष्टिकोण में हमें यह सार-तथ्य विस्मृत नहीं करना चाहिए।

(क) मैं और मेरा परिवेश-जगत् :

ठोस मानव-जीवन का सर्वाधिक स्पष्ट अव्यवहित रूप 'मैं' की अभिव्यक्ति में प्रकट है। जिस तरह मानव-जीवन जीवंत अनुभवों के रूप में विस्तृत होकर जगत् से स्वरूपतः संबद्ध हो जाता है उसी तरह इन्हीं अनुभवों के आभ्यतरित विस्तार में वह 'मेरी' चेतना (प्रत्येक मनुष्य की उसकी अपनी वैयक्तिक चेतना का 'अहम्', अभि-व्यक्ति-रूप 'मैं') से संबद्ध होता है। अनुभवों की यह बाद वाली आभ्यंतर संलग्नता ही सर्वाधिक स्पष्ट, सरल और अव्यवहित रूप में बोध्य है। तदनुसार, यह स्वयं-सिद्धतः प्रकट है कि प्रस्तुत जगत् मेरा—प्रत्येक मनुष्य के लिए उसका अपना—'वास' है : यह एक-साथ ही मेरा 'आवास' तथा मेरे संदर्भ-रूप में मेरा 'परिवेश' है। इस जगत् में मैं रहता हूँ और मेरे अपने अनुभव की संलग्नता में वह मेरा परिवेश बनता है। जगत् में इस प्रकार 'मेरे' वैयक्तिक अस्तित्व का जो रूप है, उसकी विस्तृत फिनामिनालॉजिकीय विवेचना हमें हाइडेगर और सार्त्र के लेखन में मिलती है—जिसका उल्लेख हम अतिम अध्याय में करेंगे। जहाँ तक हुस्सर्ल का प्रश्न है, यह द्रष्टव्य है कि अपने वैज्ञानिक-सैद्धांतिक दृष्टिकोण में 'वस्तुत्व' व 'तत्त्व' के आधारभूत स्पष्टीकरण में अधिकाधिक व्यस्त होने के कारण वह वैयक्तिक मानव-अस्तित्व की फिनामिनालॉजिकीय गवेषणा पर अधिक ध्यान नहीं दे पाता। प्रस्तुत संदर्भ में, वह अपना ध्यान जगत्-परिवेश पर ही, जहाँ तक वह ज्ञान में अव्यवहित रूप से प्रकट होता है, केन्द्रित करता है। और यहाँ हम इसी की चर्चा करेंगे।

मेरा परिवेश-जगत् मुझे कई परिप्रेक्ष्यों और तदनुकूल निर्धारित रूपों में बोध्य है। अतः मेरे लिए वह मात्र तथ्यों व वस्तु-स्थितियों का जगत् नहीं है। साथ-साथ उतने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही अव्यवहित रूप में वह मेरे लिए मूल्यों, आदर्शों (कांक्ष्यों), व क्रियाओं का भी जगत् है। जिस तरह वस्तुएँ मेरे समक्ष अनायास और स्वभावानुसार गुणयुक्त होकर प्रकट होती हैं उसी तरह मूल्यवान्, कांक्ष्य, सुंदर-असुंदर, अच्छी-बुरी, सुखदायक-दुःखदायक आदि रूपों में भी प्रकट होती हैं : थाली, जिससे खाना खाया जाता है (उपयोगी); टूटी कलम, जिससे लिखा नहीं जा सकता (अनुपयोगी); इत्यादि। मॉर्लो पॉन्ती के अनुसार, हमारा परिवेश-जगत् एक तथ्य-जगत् होने के साथ-साथ एक 'सांस्कृतिक जगत्' भी है। मेरे व्यवहार-जगत् में तथ्य-जगत् पूर्वमान्य रहता है, जबकि वही मेरा सांस्कृतिक जगत् भी बन जाता है जब उसी में मैं अपने मूल्यों व आदर्शों को भी अर्थयुत होते हुए देखता हूँ और साथ-ही उसमें अन्य प्राणियों व अन्य मनुष्यों को अपना सहभागी समझता हूँ। इसीलिए यह संभव होता है कि अन्य प्राणियों व मनुष्यों के मित्र-शत्रु, चीन्हे-अनचीन्हे, सेवक-अविकारी, सजातीय-विजातीय आदि रूप मेरे लिए सहजतः प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह कि, मेरा परिवेश-जगत् मेरे समक्ष अपने विविधतापूर्ण निज-रूप में प्रस्तुत रहता है जिसे मैं स्वेच्छानुसार बदल नहीं सकता।

दूसरी ओर, अपने-आप में स्वयं मेरा एक अव्यवहित, निरंतर प्रवहमान प्राकृतिक अनुभव-प्रवाह रूप जीवन भी है जो अपने स्वरूप में मेरे 'यथार्थ' परिवेश-जगत् से बिल्कुल भिन्न है—और इस तरह वह 'अ-यथार्थ' स्वरूप है—यद्यपि उसका भी अनिवार्य संदर्भ उक्त परिवेशजगत् ही है। मेरी समग्र संपृक्त व बहुरूप मानसिकता और उसमें चेतना की स्थिर आत्मरूपवत्ता 'यथार्थ' जगत् से सहयुक्त होते हैं। उक्त समग्र संपृक्त बहुरूप मानसिकता के लिए देकार्त का 'प्रज्ञान' शब्द प्रयुक्त किया जा सकता है : निरीक्षण-प्रत्ययन, सामान्यीकरण-विशिष्टीकरण, संग्रहण-संगमन, कल्पनानुमान, व्यवस्था-नियमन आदि, और इनसे संलग्न निर्णय-विवेचन, स्वीकरण-अस्वीकरण, वेदना-अनुभूति, इच्छा-अनिच्छा, आशा-आकांक्षा आदि मनःस्थितियाँ व क्रियाएँ और इन सबके साथ ही 'अहम्' (इगो) की सद्यःजात प्रवृत्तियों के रूप में वे शुद्ध क्रियाएँ जो जगत् के अनुभव में अधिगृहीत होकर मेरे समक्ष प्रकट होती हैं। संज्ञान मेरे सहज स्वाभाविक (प्राकृतिक) व आनुभविक जीवन का आधारभूत क्रियामूल रूप है; फिर चाहे मैं उसका उस रूप में कथन करूँ या नहीं करूँ।

इस तरह प्रज्ञान ही जगत् के प्रति मेरे सहज स्वाभाविक दृष्टिकोण का आधार है, जिससे जगत् मेरे परिवेश-जगत् के रूप में स्पष्ट होता है। प्रज्ञान-संदर्भ से जगत् मेरे समक्ष एक तथ्य-जगत् के रूप में प्रदत्त का रूप वाला बनता है, अर्थात् एक पूर्व-प्रदत्त रूप वाला जो सभी मान्यताओं या सिद्धांतों के 'पूर्व' है। उसका रूप एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वतंत्र अवगमनात्मक भाव का न होकर, आत्मचिंतन-रहित चेतना की अंतर्वस्तु का होता है। अतः उसकी भावपरक प्रत्ययात्मक व्याख्या संभव नहीं है। पूर्व-प्रदत्त के रूप में मेरा परिवेश-जगत् एक आद्य 'वह'-'वहाँ' है। इस तरह मेरे सहज प्राकृतिक दृष्टिकोण में उसका रूप एक सहज सामान्य स्थापना का है : 'वह-जो-वहाँ-है'। इस स्थापना के रूप में जगत् आद्यन्त मेरे जीवन में व्याप्त है और मेरे समस्त अस्तित्व-परक विधेयात्मक (प्रेडीकेटिव) व प्रत्ययात्मक कथनों व निर्णयों का आधार है। यही सामान्य स्थापना प्रकृति-विज्ञान के सैद्धांतिक दृष्टिकोण का भी मूलाधार है; किंतु द्रष्टव्य है कि 'प्रकृतिविज्ञान का सैद्धांतिक दृष्टिकोण' और 'प्राकृतिक दृष्टिकोण' एक-ही नहीं हैं।

(ख) मेरा प्रत्ययमूलक परिवेश-जगत् और आत्म-प्रस्तुति।

किंतु प्राकृतिक दृष्टिकोण विषयक उपर्युक्त स्थापना का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक विशिष्ट संज्ञान मुझे किसी-न-किसी ठोस वास्तविकता या तथ्य—देशकालिक वस्तुओं व मनुष्यों—से बाँध कर रखता है। यह सर्वथा संभव है कि मेरा संबंध शुद्ध अंकों या उनके विशुद्ध आकारिक नियमों से हो—अर्थात् ऐसी किन्हीं 'वस्तुओं' से जो मेरे प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य वाले तथ्य-जगत् में उपस्थित नहीं होतीं। किंतु उस स्थिति में मेरे समक्ष एक 'अंकों का जगत्' अवश्य उपस्थित होता है। इस प्रकार का अ-तथ्यात्मक परिवेश-जगत् मेरा 'प्रत्ययमूलक परिवेश-जगत्' है। जिस तरह मेरे प्राकृतिक प्ररिप्रेक्ष्य के संदर्भ में तथ्यात्मक परिवेश-जगत् प्रस्तुत होता है उसी तरह मेरे अंक-गणितीय परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में अंकों का प्रत्ययमूलक (अ-तथ्यात्मक) परिवेश-जगत् प्रस्तुत होता है। और जो बात अंकगणितीय परिप्रेक्ष्य के विषय में सही है वही अन्य अ-प्राकृतिक परिप्रेक्ष्यों के विषय में भी सही है।

किंतु द्रष्टव्य है कि जब भी संज्ञान की स्थिति में मेरे समक्ष कोई प्रत्ययमूलक परिवेश-जगत् प्रस्तुत रहता है उसकी प्रस्तुति में तथ्यात्मक परिवेश-जगत् का निषेध प्रस्तुत नहीं रहता। वस्तुतः ऐसा हो सकना संभव भी नहीं, क्योंकि प्राकृतिक परिवेश-जगत् तो संज्ञान मात्र की सहज सामान्य स्थापना है और इसलिए इस रूप में वह मेरे समस्त अ-प्राकृतिक परिप्रेक्ष्यों में भी आद्यन्त समाया रहता है। किंतु तब वह अ-विचारित होने से तत्त्वतः प्रकट नहीं होता। उक्त परिप्रेक्ष्यों में मेरी सक्रिय चेतना के लिए वह केवल पृष्ठभूमि का काम करता है—जो उनको आधार तो प्रदान करता है किंतु स्वतः प्रकट परिवेष्टी क्षितिज बन कर उन्हें निश्चित नहीं कर सकता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतः स्पष्ट है कि तथ्य-जगत् व आदर्श-जगत् एक ही 'यथार्थता' के अंग हैं; वे साथ-साथ उपस्थित रहते हैं किंतु परस्पर संबद्ध नहीं होते। संपृक्त व बहुरूप मानसिकता के एकत्त्वमूलक केंद्र 'अहम्' से उनका संबंध पृथक्-पृथक् होता है; तथापि चूँकि वे एक ही 'अहम्' से संबधित होते हैं, स्वयं मुझे (व्यक्ति को) इसकी पूरी स्वतंत्रता होती है कि मैं स्वेच्छापूर्वक इस या उस जगत् में विचरण कर सकूँ।

अब स्पष्ट है कि यह सामान्य स्वीकृत धारणा कि 'आत्म' का अर्थ आदर्शों व कांक्ष्यों का अनिवार्य आशय वाला है, फिनामिनालॉजिकीय दर्शन में मान्य नहीं हो सकती। आदर्श या कांक्ष्य अ-वास्तविक या अ-तथ्यात्मक अवश्य हैं किंतु यह 'यथार्थ' की भावाभिव्यक्ति का ही एक पक्ष है, जबकि आत्म-प्रस्तुति का रूप किसी तरह 'यथार्थता' की भावाभिव्यक्ति का रूप वाला नहीं हो सकता। अवश्य संज्ञान-संदर्भ से ही आत्म-प्रस्तुति भी होती है किंतु उसका रूप है: कोई है जो देखता है, सोचता है, कल्पना करता है, अनुभव करता है, इच्छा करता है। अतः इस संबंध में समस्यात्मकता का रूप, जैसाकि हाइडेगर ने कहा, 'कौन ?' का है, 'क्या ?' का नहीं। इस समस्यात्मकता का विशेष उल्लेख हम अंतिम अध्याय में करेंगे। यहाँ केवल यह उल्लेखनीय है कि स्वयं हुस्सर्ल उक्त समस्यात्मकता को एक बिल्कुल भिन्न ढंग से देखता है, जो स्वयं उसके और उसके एक सर्वाधिक प्रभावशाली अनुयायी हाइडेगर के बीच मतभेद का एक मुख्य कारण है: हुस्सर्ल की दृष्टि में समस्या यह है कि कैसे अनिवार्यतः आत्मवृत्तमूलक मानव-मानसिकता में वस्तुनिष्ठता के आधारभूत सामान्य तत्त्वों को ढूँढ़ निकाला जाय, जबकि हाइडेगर की दृष्टि में समस्या निर्वैयक्तिक सामान्यीकृत वस्तुनिष्ठता में खोये वैयक्तिक आत्म-रूप मनुष्य का रूप उजागर करना है। संभवतः हुस्सर्ल और हाइडेगर के बीच दृष्टिभेद का कारण उनका मूल सैद्धांतिक मतभेद है—हुस्सर्ल सैद्धांतिकता का चरमोत्कर्ष दार्शनिक 'ज्ञान' की प्रतिष्ठा में पाता है जबकि हाइडेगर के अनुसार इस सैद्धांतिकता का चरमोत्कर्ष दार्शनिक 'भाव' की प्रतिष्ठा में है जो मानव-भाव की 'अस्तित्ववादी व्याख्या' (एक्ज़िस्टेंशियल एनालिटिक्) द्वारा ही संभव है।

किन्तु जहाँ तक स्वयं आत्म-प्रस्तुति की भाव रूप में अभिव्यक्ति का सवाल है, हुस्सर्ल और हाइडेगर (वस्तुतः सभी फिनामिनालॉजिकीय चिंतक) इसमें सहमत हैं कि इस भावाभिव्यक्ति का रूप उस प्रकार की 'अ-यथार्थता' का है जो तत्त्वतः न तो 'यथार्थ' पर आधारित है (जैसाकि आदर्शों आदि की अभिव्यक्ति में होता है) और जो न ही उसका कोई अंश या पक्ष है। यह ठीक है कि अपनी आत्म-प्रस्तुति में भी मैं अपने-आपको अपने परिवेश-जगत् से बँधा पाता हूँ—किन्तु इस तरह नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि वही मेरी ग्रात्म-प्रस्तुति का तात्त्विक ग्राधार है। इसके विपरीत, मेरा परिवेश-जगत् तत्त्वतः, ग्रर्थात् ग्रपने मूल जगत्-भाव में, मुझमें ही रचित है। कांट द्वारा की गई स्वलक्षण वस्तुग्रों की धारणा इसीलिए निरर्थक है : ग्रपने शुद्ध परात्मक रूप में वस्तु-भाव ग्रवश्य है किंतु वह तत्त्वतः ग्राकस्मिक है ग्रौर इसीलिए वस्तु-ज्ञान के ग्राधार-रूप में उसकी स्वतंत्रता या निजरूपता की ग्रावश्यकता बिल्कुल नहीं है।

ग्रौर ग्रंत में यह भी द्रष्टव्य है कि जो कुछ मेरी ग्रात्म-प्रस्तुति के संबंध में सही है—जहां तक मैं जानता हूँ, ग्रर्थात् जो मेरे ज्ञान की पहुंच है जिसे ग्रन्य झुठलाने का दावा नहीं कर सकते—वही ग्रन्य व्यक्तियों के लिए भी सही है। उनका ग्रनुभव करते हुए उन्हें भी मैं 'ग्रहम्मनस्' रूप वाला, ग्रर्थात् ग्रपने ही सदृश, किंतु ग्रस्तित्वतः ग्रपने से भिन्न, देखता हूँ। स्पष्ट है कि उन्हें 'ग्रहम्मनस्' रूप में मैं इसलिए देख पाता हूँ क्योंकि उनका ग्रपना, ग्रलग-ग्रलग, परिवेश-जगत् होता है जिसमें मैं स्वतः सशरीर सम्मिलित होता हूँ—ठीक उसी तरह जैसे वे मेरे ग्रपने परिवेश-जगत् के ग्रंग होते हैं। ग्रौर यह कि उनका भी ग्रपना परिवेश-जगत् होता है, ग्रौर यह वस्तुतः उस ग्रनुभव पर ग्राधारित होता है जो मेरे ग्रौर उनके परिवेश-जगत् को एक ही जगत्—सर्वसामान्य प्राकृतिक परिवेश-जगत्—के रूप में प्रकट करता है। यह सही है कि पृथक्-पृथक् ग्रहम्मनसों की ग्रपनी-ग्रपनी ग्रनुभूतियां, स्मृतियां ग्रादि हैं, किंतु यह भी सही है कि हम ग्रपने पड़ोसियों को जानते-समझते हैं ग्रौर परस्पर इस तरह व्यवहार करते हैं कि एक ही वस्तुनिष्ठतामूलक देश-कालिक तथ्य-जगत् की स्थापना होती है।

उल्लेखनीय है कि कई दार्शनिकों द्वारा ग्रन्य मनस् के भाव व ज्ञान की जो समस्या उठाई जाती रही है उसका रूप फिनामिनालॉजिकीय दृष्टिकोण से ठीक नहीं है। फिनामिनालॉजिकीय विचार-धारा के ग्रनुसार तत्संबंध में सही समस्या 'प्रामाणिकता' की है भाव या ज्ञान की नहीं। किंतु तब (भाव व ज्ञान की समस्या न रहने पर) इस प्रामाणिकता का सही प्रश्न उठाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि ग्रन्य मनस् के सहजतः उपलब्ध 'भाव' व 'ज्ञान' को किसी तरह ग्रप्रामाणिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। द्रष्टव्य है कि यहाँ फिनामिनालॉजिकीय युक्ति विरोधी-युक्ति को स्वयं उसके प्रयोग के ग्राधार से नष्ट करने का एक सुन्दर प्रयोग है : मेरा ज्ञान (ग्रन्य मनस् के भाव ग्रादि का) 'मेरा' है, उसे तुम्हारे या किसी ग्रन्य के द्वारा ग्रसिद्ध कैसे किया जा सकता है, यदि वही तुम्हारा या किसी ग्रन्य का भी ज्ञान नहीं है ? ध्यातव्य है कि इस फिनामिनालॉजिकीय दृष्टिकोण के मूल में उसी ग्राद्य-विश्वास (प्रोटोडॉक्सा) की धारणा है जिसका उल्लेख हम पहले कर ग्राये हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(ग) प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य की सामान्य स्थापना का स्थगन :

जैसाकि हमने पहले कहा था, हमारे समस्त अस्तित्वमूलक विधेयात्मक कथनों व निर्णयों की जड़ में हमारे प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य की यह सामान्य स्थापना होती है कि 'वह' (जगत्, भाव-रूप में वहाँ 'कुछ') है। स्पष्ट है कि इस परिप्रेक्ष्य के भीतर रह कर हम उक्त सामान्य स्थापना को ही विवेचित रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते। इसीलिए जब हम उस सामान्य स्थापना पर आधारित कथनों व निर्णयों के संबंध में संदेह या निषेध कर रहे होते हैं, स्वतः उस सामान्य स्थापना को हम किसी तरह प्रभावित नहीं कर पाते। वस्तुतः इसके ठीक विपरीत होता यह है कि प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत अपनी प्रत्येक वैज्ञानिक गवेषणा में, अर्थात् उसमें अंतर्भूत प्रत्येक शंका व निषेध में, हम उस सामान्य स्थापना को अधिकाधिक समग्रता, स्पष्टता व निश्चिततापूर्वक जानना चाहते हैं।

परन्तु अपने संदेहों निषेधों में उक्त सामान्य स्थापना को अछूता छोड़ देने की बात केवल वहीं तक ठीक है जहाँ तक कि हम प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत उस पर विचार नहीं कर सकते—जिसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उस पर विचार किया ही नहीं जा सकता। किसी प्रकट कथन या निर्णय की ही तरह हम उस पर भी विचार कर सकते है—जैसे देकार्त की संदेहवादी विधि का अनुगमन करते हुए, जिसके अंतर्गत जो-कुछ है उस पर संदेह का **प्रयास** किया जा सकता है। यहाँ स्मरणीय है कि हुस्सर्ल संदेह के 'प्रयास' पर ही ज़ोर देता है, देकार्त की तरह स्वयं जो है उसे ही संदिग्ध बना देने पर नहीं। तदनुसार, प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य की सामान्य स्थापना के क्षेत्र में संदेह की क्रियाशीलता न तो 'वह' रूप जगत्-भाव को अभाव में बदलती है और न उसे संदेहास्पद या अनिर्णीत सिद्ध करती है। यहाँ संदेह की सक्रियता का लक्ष्य उक्त स्थापना को मात्र स्थगित या निलंबित करने से है। वस्तुतः यहाँ पिछले अध्याय में चर्चित 'अलिप्तता-विधि' की सक्रियता का आशय है : इस विधि द्वारा हम उक्त स्थापना को इस तरह परिवर्तित करते हैं कि वह 'निष्क्रिय' हो जाती है जिससे कि उसका 'कोष्ठकीकरण' या 'असंबंधन' होता है। वह निस्संदेह तब भी जीवंत अनुभव ही बना रहता है; केवल हम उसका 'उपयोग' नहीं करते। हम उसे न तो भूलते हैं, न उसका निषेध करते हैं; केवल उसका मूल्यान्तरण (ट्रांस्वेल्यूएशन) करते हैं। मूल्यान्तरण की हमारी इस सामर्थ्य का आधार हमारी पूर्ण स्वतंत्रता है क्योंकि हमारी मानसिकता का निजी-रूप 'संभाव्यता' का है, किसी वास्तविकता का नहीं। पुनः, परामूल्यन की स्थिति में सामान्य स्थापना से संलग्न कोई भी संज्ञानात्मक प्रवृत्ति सक्रिय नहीं हो पाती। जबकि जो मानसिक 'वृत्ति' उस संदर्भ में सक्रिय रूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में प्रकट होती है उसका सामान्य रूप 'अलिप्तता' का होता है, जो निर्णय न लेने की एक विशेष वृत्ति है। उक्त स्थापना के संदर्भ में, और इसलिए साथ ही समस्त प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य के—जिसके अंतर्गत समस्त प्रकृतिविज्ञानमूलक परिप्रेक्ष्य भी आ जाता है—संदर्भ में, कोई निर्णय न लेने से ही यह संभव हो पाता है कि फिनामिनालॉजिकीय गवेषणा के अंतर्गत प्रकृति-विज्ञान का समूचा क्षेत्र उससे असंबंधित हो जाता है। यही कारण है कि फिनामिनालॉजिकीय गवेषणा में प्रकृति-विज्ञान के मानदंडों के उपयोग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

यहाँ स्मरणीय है कि हाइडेगर जैसे अन्य फिनामिनालॉजिकीय चिंतकों के अनुसार भी फिनामिनालॉजिकीय गवेषणा में प्रकृति-विज्ञान के मानदंडों का कोई स्थान नहीं; किंतु ऐसा मानने का उनका कारण सदैव वही नहीं है जो हुस्सर्ल का है। उदाहरणार्थ, हाइडेगर संदेह-विधि द्वारा जगत्-संबंधी सामान्य स्थापना के स्थगन का समर्थन नहीं करता। वस्तुतः, उसके अनुसार, ऐसा हो सकना संभव ही नहीं क्योंकि जगत्-भाव तो अपनी सार्थकता में मानव-भाव में ही अनिवार्यतः अधिष्ठित है (द्रष्टव्य : हाइडेगर द्वारा 'मनुष्य' का अर्थ=जगत्-में-भाव (बीइंग-इन-दि-वर्ल्ड))। वह अवश्य यह मानता है कि मानव-भाव का निरूपण जगत्-भाव के निरूपण से मूलतः भिन्न है—और यही कारण है कि बाद वाले निरूपण के मानदड पहले वाले निरूपण पर प्रयुक्त नहीं किये जा सकते—किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जगत्-भाव का स्थगन संभव है।

(घ) संज्ञान-क्रिया : बहिर्प्रत्यक्ष का रूप :

प्राकृतिक दृष्टिकोण की सामान्य स्थापना का स्थगन कर देने से एक सुविधा यह होती है कि हम स्वतः संज्ञान-क्रिया के स्वरूप पर ही अपना ध्यान केंद्रित कर सकते हैं। वस्तुतः अपनी स्वतः बोध्यता में हमारे समस्त विधिमूलक चिंतन का आरंभ भी इस तरह से शुद्धीकृत संज्ञान-क्रिया से ही होना चाहिए और तब आरंभ में ही यह देखा जा सकता है कि विविध बहुरूप प्रज्ञान-क्रिया का रूप वस्तु और आत्म के बीच किसी प्रकार के संबंध का नहीं है जैसाकि साधारणतः उसे समझा जाता रहा है। 'वस्तु' और 'आत्म' तो तत्त्वतः पृथक् धारणाएँ ही नहीं हैं अतः उनके बीच किसी प्रकार के चेतना-संबंध की बात ही नहीं की जा सकती। इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'संज्ञान' और 'अनुभव' एक ही अवधारणाएँ हैं, जिनका सही रूप आंतर्प्रत्यक्ष का है जो अनिवार्यतः अहं-संदर्भ वाला है।

तथ्य-जगत् में बहिर्प्रत्यक्ष-रूप संज्ञान या अनुभव ही मेरा 'प्रदत्तपरक साक्षात्'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(डेटॉर इन्व्यूशॅन) है—यद्यपि यह सही है कि प्रकृति-विज्ञानों की प्रामाणिकता का आधार यह साक्षात् नहीं हो सकता, और यही कारण है कि उस संदर्भ में कथनों व निर्णयों पर संदेह तथा उनका निषेध करने में हमें कोई असुविधा नहीं होती। किंतु तब प्रदत्तमूलक साक्षात् के रूप में बहिर्प्रत्यक्ष एक ऐसी संज्ञान-क्रिया अवश्य है जो वस्तुओं को उनकी सही यथार्थता में हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। उसमें प्रकट हुए 'दृष्ट' में भाव-क्षमता उतनी ही होती है जितनी कि स्वयं 'दृष्टि' में (अर्थात् हमारी मानसिक भावगत दर्शन-क्षमता में)। अतः 'दृष्ट' के पीछे किसी अन्य 'सही' यथार्थता—प्रतिभास के पीछे उसके मूल आकार—का प्रश्न ही नहीं उठता। 'दृष्ट' ही सही यथार्थता है और वही हमारे समक्ष स्वभावतः प्रकट है। इस तरह 'दृष्ट-दृष्टि' का जो अर्थ बहिर्प्रत्यक्ष में निहित है उसका रूप है—देश में स्थित तीन आयामों वाली वस्तु की दृष्यता। तदनुसार, बहिर्प्रत्यक्ष की प्रस्तुति का रूप है—विशिष्ट अस्तित्वमूलक वस्तु। किंतु प्रस्तुति में अस्तित्वमूलक होना वस्तु का अनिवार्य लक्षण नहीं है। प्रस्तुत-रूप में 'वस्तु' की अनिवार्यता का प्रश्न बहिर्प्रत्यक्ष में उसकी अस्तित्वमूलक प्रस्तुति से न जुड़ कर, 'सहीपन के आनुभविक विधान' से जुड़ा है। अतः यह बिल्कुल संभव है कि बहिर्प्रत्यक्ष में स्थिर और प्रामाणिक हो चुकने पर भी वस्तु त्याग दी जाय। इस तरह से व्यक्त वस्तुओं को ही साधारणतः भ्रम, आभास, स्वप्न आदि कहा जाता है। तात्पर्य यह कि, अनुभव में अस्तित्व-मूलक वस्तु का प्रस्तुत होना सदैव किसी-न-किसी तरह आकस्मिक होता है, अनिवार्य नहीं।

वस्तुतः, बहिर्प्रत्यक्ष के अंतर्गत प्रस्तुत वस्तु की आकस्मिकता और परिणामतः उसका संदेहात्मक होना स्वतः अनुभव-क्रिया की संरचना से संबंध रखता है। चूंकि प्रस्तुत विशिष्ट अस्तित्वमूलक वस्तु के कई दृश्य पहलू होते हैं (मॅर्लो पॉन्ती के अनुसार, असंख्य पहलू) और चूंकि किन्हीं विशेष दृष्टिकोणों से किन्हीं विशेष पहलुओं का (किंतु सभी का कभी नहीं) ही कमोबेश सही प्रत्यक्षीकरण हो पाता है—जबकि बाकी पहलुओं के संबंध में उनकी दृष्यता की केवल प्रतीकात्मक अपेक्षा की जा सकती है (और इसके लिए बर्कले की तरह समग्र वस्तु को ही एक संपूर्ण प्रत्यय के रूप में ईश्वर की बुद्धि में स्थापित मानने की बिल्कुल जरूरत नहीं है) जिसकी उसी रूप में परिपूर्ति अनिवार्य नहीं है—हमारा कोई भी प्रत्यक्ष इस तरह का नहीं हो सकता कि उस संदर्भ में वस्तु की प्रदत्तता को पूर्ण समझा जा सके। अर्थात् बहिर्प्रत्यक्षीकरण में 'वस्तु' को प्रदत्त नहीं माना जा सकता, यद्यपि उसमें प्रस्तुत वही होता है। उदाहरणार्थ, चाक्षुप प्रत्यक्ष में सामने रखी और देखी गई वस्तु का केवल 'अग्र' ही ठीक-ठीक दृश्य होता है, जबकि उसके शेष 'पक्ष' केवल कमोबेश रूप में ठीक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से दृश्य होते हैं और उसके पृष्ठ भाग की दृश्यता की केवल प्रतीकात्मक अपेक्षा रहती है। फिर, स्वतः वस्तु-दृश्यता में स्पष्टता-अस्पष्टता के क्रमभेद से यह स्थिर कर पाना कठिन है कि प्रस्तुत वस्तु का अग्र भाग भी बिल्कुल ठीक-ठीक दृश्य हो सका। अतः स्पष्ट है कि अस्तित्वमूलक वस्तु का प्रत्यक्षीकरण ही इस तरह का है कि उस संदर्भ में पूर्णतः सदेहरहित नहीं हुआ जा सकता। सिद्धांततः असम्भव नहीं कि इस तरह से प्रस्तुत वस्तु आभास-मात्र हो, जैसाकि आइने में प्रस्तुत परछाईं के स्पर्श से सिद्ध होता है।

पुनः, जो बात विशिष्ट अस्तित्वमूलक वस्तु की प्रस्तुति के विषय में सही है वही इन वस्तुओं के समग्र क्षेत्र—संपूर्ण तथ्य-जगत्—की प्रस्तुति के विषय में भी सही है : यही कारण है कि वस्तु-जगत् या तथ्य-जगत् की यथार्थता केवल पूर्व-मान्यता के आधार से हो सकती है, किसी प्रामाणिकता के आधार से नहीं। फिर, चूंकि यह संभव है कि वस्तुएँ अस्तित्वमूलक ही न हों, यह भी सर्वथा संभव है कि उस संबंध में कोई यथार्थ बहिर्प्रत्यक्ष न हो। इस तरह स्वतः बहिर्प्रत्यक्ष और उसमें प्रस्तुत जगत् दोनों ही संदेह के घेरे में आ जाते हैं।

(ङ) अनुभव और उसका प्रदत्त :

किंतु अस्तित्वमूलक वस्तुओं व उनके अनुभवों के संदर्भ में उक्त तरह से संदेह कर सकने का आशय यह कदापि नहीं है कि वे अभाव रूप में सिद्ध किये जा सकते हैं। इसके विपरीत, हुस्सर्ल के अनुसार, अपने भाव रूप में वे अनुल्लंघनीय हैं। अपनी प्रस्तुति में आकस्मिकता लक्षण होने पर भी अस्तित्वमूलक वस्तुएँ अपने अस्तित्व के कारण एक तरह से अनिवार्य हैं। अवश्य इस 'अनिवार्यता' का रूप 'तात्त्विक अनिवार्यता' का नहीं है; किंतु इससे उनके 'होने' (भाव) में कोई बाधा नहीं आती, और यह 'होना' स्वयं अपनी दृष्यता की योग्यता के रूप में आवश्यक है।

फिनामिनालॉजी की यह एक सामान्य धारणा है कि बहिर्प्रत्यक्ष रूप अनुभव में एक क्षितिज-परिवेष्टित विशिष्ट वस्तु प्रस्तुत होती है। इसी धारणा का दूसरा पक्ष यह है कि कोई विशिष्ट वस्तु-रूप प्रस्तुति केवल उक्त अनुभव-सदर्भ से ही सभव है। अतः स्वाभाविक है कि फिनामिनालॉजी में कांट की 'स्वलक्षण वस्तु' (थिंग-इन-इट्सेल्फ) जैसी धारणा के लिए कोई जगह नहीं है। 'अनुभव' को 'बुद्धि' से तत्त्वतः पृथक् मानने के कारण कांट के लिए 'स्वलक्षण वस्तु' की धारणा आवश्यक हो जाती है; जबकि 'अनुभव' को 'बौद्धिक-क्रिया' रूप मान लेने के कारण फिनामिनालॉजी में उक्त ढंग की किसी धारणा के लिए कोई जगह नहीं बच रहती।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतः आश्चर्य नहीं कि फिनामिनालॉजी में वहिर्प्रत्यक्ष रूप अनुभव का अर्थ वही नहीं जो कांट का है—अर्थात् 'निष्क्रिय ग्राह्यता' (पैसिव रिसेप्टिविटी) का। इसके विपरीत, उसका अपना शुद्ध रूप 'क्रियात्मकता' का है—और इस दृष्टि से उसमें और आंतर्प्रत्यक्ष रूप अनुभव में कोई अंतर नहीं है। अनुभव वाह्य यथार्थ से पारस्परिकता वाली कोई 'आभ्यंतर' घटना या संबंध नहीं है। उसका शुद्ध तात्त्विक रूप 'उन्मुख चेतना'* (कांशसनेस ऑफ) का है, अर्थात् वह सदैव किसी-कुछ की चेतना है—विशिष्ट अस्तित्वमूलक वस्तु की या काल्पनिक दैत्य आदि की, या फिर किसी विशिष्ट प्रत्यक्षीकरण की, या उस संबंध में किसी निर्णय की। आशय यह कि, अनुभव कभी स्वतः 'तथ्य' रूप बन कर प्रस्तुत नहीं होता यद्यपि आंतर्प्रत्यक्ष के अंतर्गत 'विषय' में उसका अविग्रहण अवश्य होता है। इस आंतर्प्रत्यक्ष के, जो वहिर्प्रत्यक्ष की स्वानुभूत चेतना है, संदर्भ में ही हुस्सर्ल तत्त्वरूप मानसिक संरचना और प्रदत्तों की चर्चा करता है (यद्यपि तत्त्व संबंधी उसका यह मत हाइडेगर, सार्त्र, पॉन्ती जैसे अन्य फिनामिनालॉजिकीय विचारकों को मान्य नहीं है)।

अब बहिर्प्रत्यक्ष के संबंध में यह महत्त्वपूर्ण फिनामिनालॉजिकीय मत विचारणीय है कि उसमें हमारी उन्मुखता से विशेषित प्रस्तुत वस्तु ही अनुभव का 'प्रदत्त' नहीं है। अनुभव-की-वस्तु अनिवार्यतः अनुभवातिक्रामी या परत्व-लक्षण होती है—जो साथ ही अनिवार्यतः अभिमुखता-लक्षण होने से अव्यवहित रूप में ज्ञेय भी है। द्रष्टव्य है कि पारंपरिक दर्शन-शास्त्र में 'वस्तु' के विषय में यह समस्या रही है कि उसके 'भाव' (अस्तित्व रूप) और 'ज्ञान' (प्रस्तुतरूप) की रक्षा साथ-साथ कैसे की जा सकती है? उसे स्वरूपस्थिति मान लेने से उसका सही-सही ज्ञान असभव है, दूसरी ओर, उसे 'ज्ञेय' मान लेने से उसका कोई स्वरूप स्थिति रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता : इसी समस्या का समाधान फिनामिनालॉजिकीय विचारधारा में वस्तु की 'परता' और 'अभिमुखता' को अनुभव के अंतर्गत परस्पर अवियोज्यतः संबद्ध कर किया जा रहा है। वस्तु की परता या अनुभवातिक्रामिता उसकी भावात्मक स्वतंत्रता और अपरिहार्यता का आधार है। यह वात वस्तु-प्रस्तुतकारी वहिर्प्रत्यक्ष की अतश्चेतना या अंतर्प्रत्यक्ष में बिल्कुल स्पष्ट होकर हमारे सामने आती है; तब हम देख पाते हैं कि स्वतः 'अनुभव' और 'अनुभव-की-वस्तु' के बीच कोई सैद्धांतिक या अनिवार्यतः वास्तविक या तात्त्विक संबंध नहीं है। तब हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा अनुभव प्रत्येक क्षण परिवर्तमान है, दृष्टिकोण-भेद से तथा साथ-ही वस्तु के बहुविधात्मक प्रस्तुति-भेद से भी; जबकि प्रस्तुत-वस्तु एक और सम-रूप है—जैसाकि नये अनुभवों को स्मृति के साथ संयुक्त करने वाली संश्लेष-चेतना (सिन्थेटिक कॉंशस-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नेस) से हमें ज्ञात होता है । अतः प्रकट है कि वह एकत्वमूलक वस्तु, जिससे अनुभव संबंधित है, स्वतः अनुभव में अंतर्भाव्य नहीं हो सकती, यद्यपि उसके संदर्भ में एक मानसिक एकता अवश्य होती है ।

अब प्रश्न उठता है कि यदि स्वतः अनुभव-की-वस्तु अनुभव में प्रस्तुत होने पर भी उसका प्रदत्त नहीं है तो अनुभव-का-प्रदत्त क्या है ? हुस्सर्ल का मत है कि इस प्रश्न को केवल वस्तु-प्रस्तुतकारी अनुभव के सहारे नहीं सुलझाया जा सकता, क्योंकि इस तरह का अनुभव स्वयं अपने संबंध में कोई अंतर्दृष्टि प्रदान नहीं कर सकता : उसकी अंतर्दृष्टि का सामर्थ्य केवल यह प्रकट करने में है कि अनुभवातिक्रामी वस्तु का अनिवार्य लक्षण उसकी अनुभवाभिमुखता है और यही अनुभव में वस्तु-प्रस्तुति का लक्षण है । स्वतः इस अनुभव (वहिर्प्रत्यक्ष-रूप) का अपना निज-रूप एक अन्य प्रकार के अनुभव—जो प्रथम प्रकार के अनुभव का अनुभव है—द्वारा ही समझा जा सकता है । इस बाद वाले अनुभव को ही हुस्सर्ल आंतर्प्रत्यक्ष या 'तात्त्विक-प्रत्यक्ष' कहता है । बहिर्प्रत्यक्ष-रूप अनुभव वस्तु के संदर्भ में प्रदत्तमूलक साक्षात्कार है; वह वस्तु का प्रतिरूपण करता है, स्वयं अपना नहीं । उसके स्वयं अपने निज-रूप के निदर्शन के लिए ही आंतर्प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है । और जब हम आंतर्प्रत्यक्ष या 'अनुभव का अनुभव' की चर्चा करते हैं हमारा विषय-संदर्भ वस्तु न होकर स्वयं चेतना हो जाता है । किंतु चेतना के स्वरूप व संरचना की विस्तृत विवेचना हमारे अगले अध्याय का विषय होगा ।

(च) वस्तुनिष्ठता का प्रश्न :

इसके पहले कि हम बहिर्प्रत्यक्ष रूप संज्ञान-क्रिया और उसमें प्रस्तुत वस्तु की चर्चा का समापन करें, वस्तु-ज्ञान के संदर्भ में उठने वाले एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न—वस्तु-निष्ठता का प्रश्न—का उल्लेख आवश्यक है । साधारणतः 'वस्तुनिष्ठता' का अर्थ अनुभव-की-वस्तु या 'यथार्थ' से चेतना की इस तरह की संलग्नता माना जाता है कि चेतना की अभिव्यक्ति (ज्ञान) में वस्तु का ठीक-ठीक आकलन व विवरण होता है । किंतु तब प्रश्न उठता है कि 'वस्तु-स्वरूप के ठीक-ठीक आकलन व विवरण' का क्या अर्थ है ? पुनः, यदि कोई कहता है कि 'वस्तु के स्वरूप का ठीक-ठीक आकलन व विवरण इस-इस तरह है' तो उसके इस कथन की प्रामाणिकता क्या है ? स्पष्ट है कि ज्ञान-मीमांसा के अंतर्गत उठने वाले ये प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, विशेषकर 'अनुभव-की-वस्तु' के विषय में जो-कुछ ऊपर कहा गया उसके प्रकाश में, क्योंकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन्हीं पर ज्ञान की संभावना आधारित है। स्मरणीय है कि ह्यूम ने प्रतिपादित किया था कि उक्त प्रश्नों का कोई संतोषजनक समाधान सिद्धांततः असंभव है, और इस तरह उसने वस्तु-ज्ञान की संभावना मात्र से इंकार कर दिया, क्योंकि 'वस्तु-निष्ठता' को 'वस्तु-निष्ठ' अर्थ दे सकना ही असंभव है। ह्यूम द्वारा प्रतिपादित इस मत के गूढ़ार्थ को समझ कर ही कांट ने कहा कि 'वस्तुनिष्ठता' का केवल एक अर्थ ही संतोषजनक है और वह यह कि 'अनुभव-की-वस्तु' को अनुभव की सीमा में ही बुद्धि के किन्हीं सार्वभौम नियमों व अर्थाभ्युपगमों (केटेगॅरीज़) द्वारा रचित समझ लिया जाय। और फिर इसके बाद केवल उक्त रचना की प्रामाणिकता का प्रश्न रह गया जिसे कांट ने शुद्ध बौद्धिक-क्रिया के विश्लेषणात्मक विवरण द्वारा स्पष्ट किया।

किंतु क्या कांट के प्रयास से वस्तुनिष्ठता का मूल प्रश्न सुलझ गया? क्या यह सही नहीं है कि स्वयं कांट अपने उक्त समाधान से पूर्णतः संतुष्ट नहीं हो सका और इसीलिए उसने 'स्वलक्षण वस्तु' की कल्पना की जो 'अनुभव-की-वस्तु' से मूलतः भिन्न है? कांट की मूल कठिनाई 'बुद्धि' और 'अनुभव' को तत्त्वतः पृथक् मानने से उत्पन्न हुई और इसीलिए स्वतः 'अनुभव' को भावपरक आधार देने के लिए उसे 'स्वलक्षण वस्तु' को स्वीकार करना पड़ा—जो वस्तुतः ब्रिटिश दार्शनिक जॉन लॉक की धारणा थी, जिसके अनुसार किन्हीं गुणों के अनुभव का आधार अस्तित्वमूलक वस्तुओं की 'शक्तियाँ' हैं जो मनस् में उक्त गुण-रूप प्रभाव उत्पन्न करती हैं। किंतु एक बार 'स्वलक्षण वस्तुओं' की स्थापना कर चुकने पर कांट की 'वस्तुनिष्ठता' का वह रूप जो वह उसे सार्वभौम बौद्धिक क्रिया के आधार से देना चाहता है, डगमगा जाता है; क्योंकि वह वस्तुनिष्ठता क्या जो स्वतः 'वस्तु' से संलग्न नहीं!

कांट की उक्त 'वस्तुनिष्ठता की धारणा की कठिनाई को हुस्सर्ल ने संभवतः बड़ी गंभीरतापूर्वक सोचा-विचारा है। उसे स्पष्ट है कि कांट द्वारा सुझाया गया समाधान ही वस्तुनिष्ठता का एकमात्र समाधान है, यदि उसके मत से 'स्वलक्षण वस्तु' की धारणा का बहिष्कार किया जा सके। और इस बहिष्कार की एकमात्र संभावना इसमें निहित है कि 'अनुभव' और 'बुद्धि' को परस्पर पृथक् नहीं माना जाय—क्योंकि अन्यथा अनुभव के संदर्भ में किसी-न-किसी प्रकार की स्वरूपस्थित सत्ता स्वीकार करनी ही होगी और इस तरह हमें पुनः कांट की कठिनाई से घिर जाना होगा। अतः अपने फिनामिनालॉजिकीय दर्शन में हुस्सर्ल 'अनुभव' व 'बुद्धि' को एकाकार कर देता है, जिसे वह प्राविधिक ढंग से प्रमाणित भी करता है (वस्तुतः उसका सारा दार्शनिक-चिंतन इसी प्रामाणिकता का ही विवेचन है)। 'अनुभव' व 'बुद्धि' के इसी एकीकृत आकार में वह एक ओर तो 'अनुभवातिक्रामिता' के सहारे 'वस्तु' का स्वतंत्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाव मान्य करता है और दूसरी ओर 'अनुभवाभिमुखता' के सहारे 'वस्तु' को अनिवार्यतः रचित मानता है : उसके अनुसार 'वस्तु-भाव' व 'वस्तु-ज्ञान' एक ही अनुभव के दो पक्ष हैं, वे एक-दूसरे के पूरक हैं। अर्थात्, वस्तु-ज्ञान की संभावना में ही उसकी वस्तुनिष्ठता भी है। यह रोचक तथ्य है कि हुस्सर्ल ने ह्यूम के कथन का खंडन उस कथन को उलट कर किया : ह्यूम ने कहा था कि चूंकि वस्तुनिष्ठता का प्रश्न नहीं सुलझाया जा सकता, वस्तु-ज्ञान संभव नहीं; हुस्सर्ल ने कहा, चूंकि वस्तु-ज्ञान संभव है, वस्तुनिष्ठता का प्रश्न भी पूर्ण समाधान के योग्य है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हुस्सर्ल का 'वस्तुनिष्ठता' से क्या अभिप्राय है। उसके अनुसार, 'वस्तुनिष्ठ' वह है "जो अपने निरंतर स्वरूप-तादात्म्य में चेतना की सक्रिय विषयापेक्षात्मकता में रचित है"। इस तरह से वस्तुनिष्ठ लक्षण होना ही वस्तुनिष्ठता है। चूंकि वस्तुनिष्ठता का यही अर्थ प्रागनुभविक परात्मक आत्म द्वारा मिलता है, वह अनिवार्य और सार्वभौम है। यह परात्मक आत्म 'अपचयन' की शृंखला का अभावात्मक परिणाम नहीं है, वरन् भावतः "जगत्-भाव का पूर्वगामी है, जहाँ तक कि वह स्वतः अपने-आप में जगत्-भाव के आशय की रचना करता है, और परिणामतः जगत् को उस संप्रत्यय-रूप यथार्थ के रूप में अपने-आप में समाहित करता है जो स्वतः वास्तविक व संभाव्य रूपों में रचित है।" (फॉर्मल एँड ट्रॉसॅन्डेन्टल लॉजिक, पृ० २३७)। इस तरह, आत्म वस्तुनिष्ठता का प्रागनुभविक उत्स है, क्योंकि स्वतः अनुभव वह आद्यरूप है जिसकी आद्यरूपता उसकी आत्मरूपता से है। आत्म वस्तुनिष्ठता का प्रमाण है, क्योंकि केवल अनिवार्यता से सत्य प्रमाणित होता है और संज्ञान की व्यवस्था में केवल प्रागनुभविक या आद्य ही अनिवार्य है। 'वृक्ष' का तथ्य मेरे उस वृक्ष के अनुभव को वस्तुनिष्ठ नहीं बनाता वरन् अनुभव की आद्यता ही इसका प्रमाण है कि किन्हीं अनुभवों का विषय कोई 'यथार्थ' वृक्ष और केवल विशिष्ट वृक्ष ही होगा। इससे स्पष्ट है कि हुस्सर्ल का फिनामिनालॉजिकीय चिंतन हमारे जगत् को उसकी विशिष्टता और अनेकरूपता में एक सपूर्णता प्रदान करना चाहता है—जो वह चेतना में उसकी अनिवार्य नियमानुकूल रचना और उसकी वस्तुनिष्ठता को प्रामाणिकता प्रदान कर करता है। अतः इस सिद्धांत पर आधारित होकर कि प्रतिभास ही संज्ञान का एकमात्र स्रोत है, फिनामिनालॉजिकीय चिंतन हमारे अपने परिवेष्टी जगत् के सामान्यतः स्वीकृत रूप को ही जगत् के अनिवार्य ज्ञान में परिवर्तित करने का एक व्यवस्थित प्रयास है।

(छ) 'अर्थ' का अर्थ :

वस्तुतः जगत् और उसके संदर्भ में वस्तुनिष्ठता को उक्त ढंग से समझने का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रयास 'यथार्थ' के अर्थ में ही प्रकट है। 'यथार्थ' का अर्थ है 'यथा+अर्थ', अर्थात् अर्थ के अनुरूप। हुस्सर्ल के अर्थ (मीनिंग) के सिद्धांत में इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। अभी तक जिस संज्ञान-क्रिया या अनुभव की चर्चा हमने की वह वस्तुत: एक अर्थ-क्रिया ही है।

साधारणत: 'अर्थ' सदैव किसी-न-किसी अभिव्यक्ति का होता है। यहाँ 'अर्थ' और 'अभिव्यक्ति' समान नहीं हैं। प्रत्येक अभिव्यक्ति के तीन पक्ष होते हैं—स्वत: अभिव्यक्ति, अर्थ और निर्देश। तब स्पष्ट है कि 'निरर्थक अभिव्यक्ति'—जैसे 'किड़िकाँको' या 'राम है या' आदि—कोई अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यह तथ्य इससे प्रकट है कि, फिनामिनालॉजिकीय धारणा के अनुसार, अभिव्यक्ति का 'निर्देश' उसके 'अर्थ' में ही रचित होता है; जबकि उक्त उदाहरणों का कोई वास्तविक या संभव निर्देश नहीं है। वस्तुत: इस तरह के शब्दों या शब्द-समूहों को अभिव्यक्ति-चिह्न के रूप में प्रयुक्त ही नहीं किया जाता। और तब इससे यह भी प्रकट है कि जब भी अभिव्यक्ति-चिह्न का प्रयोग किया जाता है उसका एक 'अर्थ' होता है—यही कारण है कि हुस्सर्ल अभिव्यक्ति चिह्न और अभिव्यक्ति-अर्थ को समसंबंध लक्षण वाला मानता है। पुन:, अर्थयुक्त अभिव्यक्ति-चिह्न का प्रयोग और वस्तु-निर्देश या वस्तु-प्रस्तुति एक ही बातें हैं—चाहे वस्तु वास्तविक हो या काल्पनिक। किंतु, 'पदार्थ' (पद+अर्थ) ही वस्तु नहीं है—यद्यपि भ्रमवश प्राय: ही ऐसा समझ लिया जाता है। यदि 'अर्थ' को अभिव्यक्ति की 'वस्तुनिष्ठता' (वस्तुपरता) से तादात्म्य-रूप वाला समझ लिया जाए तो "स्वर्ण-गिरि" जैसी अभिधा (अभिव्यक्ति) अर्थहीन होगी, जबकि 'वस्तु-हीनता' को साधारणत: 'अर्थ-हीनता' से भिन्न समझा जाता है। यहाँ मिल का यह मत उल्लेखनीय है कि अ-गुणार्थक (नॉन-कॅनोटेटिव) अभिधाएँ अर्थ-हीन होती हैं। फिनामिनालॉजिकीय दृष्टिकोण से मिल का यह मत 'चिह्न' और 'अभिव्यक्ति' के भेद को ठीक-ठीक समझ न पाने पर आधारित है। एक व्यक्ति-सूचक अभिधा एक अभिव्यक्ति है, पेंसिल-चिह्न की तरह कोई चिह्न नहीं। यह सही है कि अपने अभिव्यक्ति-व्यापार में कोई अभिधा अन्य सभी अभिधाओं की तरह चिह्न-रूप से ही सक्रिय होती है, जो उसका अपना अभिव्यक्त (प्रकट या मूर्त) रूप है। किंतु अपने स्वत: अभिव्यक्त-रूप (चिह्न-रूप) में वह एक 'प्रतीकात्मक क्रिया' है जो उसकी 'संज्ञानात्मक क्रिया' से भिन्न है। प्रतीकात्मक क्रिया रूप में वह एक निर्देशात्मक चिह्न है जबकि संज्ञानात्मक क्रिया रूप में वही एक अर्थपरक अभिव्यक्ति है। जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का 'आशय' समझता है तब इस द्वितीय व्यक्ति द्वारा बोली-लिखी गई अभिव्यक्ति (शब्द, कथन) प्रथम व्यक्ति के लिए उस अन्य व्यक्ति के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'विचारों' का निर्देश करने वाला 'चिह्न' है, जबकि स्वयं उस द्वितीय व्यक्ति के लिए वही अभिव्यक्ति उसके अपने विचारों (मानसिक-क्रिया) का ही रूप व्यक्त करने वाली है। इस तरह चिह्न-रूप अभिव्यक्ति और स्वतः मानसिक-क्रिया-रूप अभिव्यक्ति एक-ही नहीं है, यद्यपि दोनों के बीच अनिवार्य संबध है। इस अनिवार्य सवंध का रूप है : अभिव्यक्ति का चिह्न-रूप उसके अर्थ-क्रिया रूप का ही सहायक उपादान है।

अतः गुणार्थक और अ-गुणार्थक अभिधाओं के भेद से अर्थयुक्तता और अर्थ-हीनता के भेद को संबंधित नहीं किया जा सकता। मिल का अनुगमन करते हुए यदि अभिधा के गुणार्थ और निर्देश के बीच के भेद को स्वीकारा भी जाय तब भी इस भेद का संबंध 'अर्थ' (मीनिंग) और 'अभिधान' (नेमिंग) के भेद से नहीं जोड़ा जा सकता। अभिधा सदैव संबंधित वस्तु को नामांकित करती है किंतु वहीं तक जहाँ तक कि वह उसे अर्थयुक्त करती है। यदि वह वस्तु अनुभव-में-प्रस्तुत नहीं तो अभिधा अपने 'अर्थ' में केवल अभिप्रायमूलक होती है—अर्थात् उस अभिव्यक्ति के संदर्भ में अभिप्राय-क्रिया अवश्य होती है किंतु उसके परिपूरण की अनुभव-क्रिया नहीं।

फिनामिनालॉजिकीय दृष्टिकोण से 'अर्थायन' तत्वतः एक क्रिया-लक्षण है, जो दो प्रकार से होता है—अर्थायत्तक-क्रिया (मीनिंग-एन्डौइंग एक्ट) के रूप में और अर्थाभिपूरक-क्रिया (मीनिंग फुलफिलिंग एक्ट) के रूप में। अर्थायत्तक क्रिया स्वतः अनुभव-प्रवाह ही है जिसके घटक संवेदादि होते हैं। अनुभव-प्रवाह की अर्थायत्तता उसकी अनिवार्य अभिप्रायात्मकता से होती है: चेतना में अभिप्राय आकारवत् होता है, अर्थात् शून्य, जबकि उसके घटक रूप में विशिष्ट अनुभूतियाँ उस आकार-संदर्भ में उपादान होती हैं। इस संबंध में विस्तृत चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ केवल यह द्रष्टव्य है कि उक्त 'आकार' और 'उपादान' परस्पर संश्लिष्ट होकर ही अर्थ को उसकी पूर्णता या वस्तुपरता (वस्तुनिष्ठता) प्रदान करते हैं। मात्र अभिप्राय रूप में अर्थाभिप्राय शून्य होता है जबकि उस अभिप्राय की आनुभविक पूर्ति से वही अर्थाभिप्राय पूर्ण होता है। उक्त अर्थाभिप्राय ही, अपने-आप में, वह है जिसे हमने अर्थायत्तकक्रिया कहा जबकि अर्थाभिपूरक-क्रिया अर्थायत्तकक्रिया से संलिष्ट वह अतिरिक्त अनिवार्य क्रिया है जिससे वास्तविक वस्तु-निर्देश संभव होता है और जिससे अर्थाभिप्राय की कमोवेश पुष्टि होती है। उक्त संश्लिष्ट क्रियाओं के संदर्भ में ही हम अभिव्यक्ति की पूर्णता या वस्तुनिष्ठता की बात करते हैं—जैसे, किसी प्रत्यक्ष या कल्पना को व्यक्त करने वाले वाक्य के संदर्भ में।

पुनः, यह फिनामिनालॉजिकीय मत भी द्रष्टव्य है कि स्वतः अभिव्यक्ति-चिह्न और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उक्त दो अर्थ-क्रियाएँ, जो अभिव्यक्ति-अर्थ और अभिव्यक्ति-निर्देश को प्रकट करती हैं, वस्तुतः चेतना में एकात्मतः संश्लिष्ट होती हैं। अभिव्यक्ति-रूप शब्द की प्रस्तुति में ही अर्थायत्तक क्रियाएँ भी प्रस्तुत होती हैं और उसके अंतर्गत अभिप्राय की जो निर्देश-केंद्रस्थता होती है वही उसकी अर्थाभिपूरक क्रिया को भी व्यक्त करती है। दूसरे शब्दों में, तत्वतः 'अभिव्यक्ति' का अर्थ पृथक्-पृथक् तत्त्वों का नियोजन नहीं होता, वरन् आनुभविक एकता के रूप वाला होने से वह स्वतः एक प्रतिभास होता है। यही कारण है कि, हुस्सर्ल के अनुसार, निरर्थक अभिव्यक्ति जैसी कोई अभिव्यक्ति वस्तुतः होती ही नहीं। यहाँ तक कि "वर्गाकार वृत्त" जैसी अभिव्यक्ति (जिसके संदर्भ में अर्थाभिपूरक-क्रिया असंभव है) में अभिहित 'अर्थहीनता' भी अर्थ में ही रचित है—'अर्थहीन अभिव्यक्ति' का अर्थ ही वह अर्थायित करना है जो वस्तुनिष्ठता में असंभव है। यदि 'अर्थ' अनुभव की प्रस्तावक-अंतर्दृष्टि में ही अंतर्भाव्य नहीं तो उस अंतर्दृष्टि से संदर्भ-रहित वाक्य का औचित्य होना अनिवार्य नहीं। उक्त अंतर्दृष्टि के अभाव में भी उससे वह अर्थायत्तक क्रिया तो संलग्न होती ही है जो उस अंतर्दृष्टि से संलिष्ट होने की स्थिति में उस अभिव्यक्ति के संदर्भ में वस्तु-ज्ञान का माध्यम होती है। इस तरह जहाँ तक अभिव्यक्ति के केवल 'अर्थ' का प्रश्न है—जो उस अभिव्यक्ति के संदर्भ में होने वाली अर्थाभिपूरक क्रिया से, जिसके द्वारा वस्तु-निर्देश होता है तथा प्रस्तुत-रूप में स्वतः उस अभिव्यक्ति से पृथक् है—वह सदैव अर्थायत्तक क्रिया के माध्यम से ही प्रस्तुत होता है; यद्यपि मात्र इतने से ही 'अर्थ' के संदर्भ में 'वस्तु-निष्ठता' की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

इस तरह स्पष्ट है कि समग्र यथार्थ, सभी वस्तुएँ—प्राकृतिक व कांक्ष्य, उनके सभी पारस्परिक संबंध—हमारे समक्ष उस रूप में इसीलिए प्रकट हो पाते हैं क्योंकि वे उन अर्थायनक्रियाओं द्वारा प्रस्तुत होते हैं जो उनसे तत्वतः भिन्न हैं। इन क्रियाओं में ही हमें उनका ज्ञान होता है और इसी ज्ञान-संदर्भ से वे वस्तु रूप में हमारे समक्ष किंतु हमसे पृथक् होकर (द्रष्टव्य : ऑब्जेक्ट (वस्तु) के लेटिन रूप 'ऑब्जेक्टस' का अर्थ ही है—'वह जो हमारे समक्ष प्रक्षिप्त है'—थ्रोन ओवर अगेन्स्ट) उपस्थित होते हैं। फिनामिनालॉजिकीय दर्शन का मुख्य लक्ष्य उन्हीं क्रियाओं का सम्यक् निरूपण है जो एकत्वमूलक चेतना या अनुभव-प्रवाह की संरचनात्मक विशिष्टताओं के रूप में प्रकट होती हैं। अगले अध्याय में हम इन्हीं की चर्चा करेंगे।

□□□

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४

शुद्ध चेतना का स्वरूप और उसकी संरचना

पिछले अध्याय से स्पष्ट हुआ कि, हुसर्ल के लिए यथार्थता—विशिष्ट वस्तु-रूप तथा समग्र जगत्-रूप—की अपनी कोई तात्विक स्वतंत्रता नहीं है, क्योंकि 'यथार्थ' अपने-आप में निरपेक्षतः 'कुछ' नहीं है। सिद्धांततः वह केवल अर्थमूलक (अभिप्रायमूलक) है, केवल ज्ञात है, अर्थात् सदैव चेतना-संदर्भ में प्रस्तुत। यहाँ चेतना-संदर्भ वही है जिसे पहले 'प्राकृतिक दृष्टिकोण' कहा गया था। किंतु चूंकि इस 'प्राकृतिक दृष्टिकोण' का प्राविधिक रूप-परिवर्त्तन 'दार्शनिक दृष्टिकोण' (फिनामिनालॉजिकीय दृष्टिकोण) में हो जाता है, जो प्राकृतिक दृष्टिकोण से संलग्न जगत्-भाव की सामान्य स्थापना को अलिप्ततापूर्वक निष्क्रिय करने से संभव होता है, सैद्धांतिक दार्शनिक दृष्टिकोण के अंतर्गत बच रही शुद्ध चेतना, अर्थात् स्वयमेव-पूर्ण भाव ही हमारी गवेषणा का लक्ष्य बन जाता है। इस रूप में चेतना का अनिवार्य लक्षण 'प्रति-चेतना' का है, जिसका अर्थ है कि वह 'अर्थगर्भा' है; उसमें वह 'अर्थ' गुह्य है जिसको प्रकट कर निरूपण करना दार्शनिक गवेषणा का उद्देश्य है। इस निरूपण में अंतर्गत शुद्ध चेतना उक्त गवेषणा के 'विषय' से उपलब्ध नहीं है: उसका स्वरूप स्वतः 'प्रति-चेतना' का है, उसे अन्य किसी चेतना के 'प्रति' उपलब्ध कर सकना असंभव है। दूसरे शब्दों में, 'प्रति' रूप से भी चेतना अंतःस्थ ही है, बाह्यस्थ नहीं: उस 'प्रति' में 'परात्म' का लक्षण उसी अंतःस्थता से ही है—इसीलिए चेतना अपने-आप में स्वयमेव पूर्ण भाव के रूप में स्पष्ट हो सकने की योग्यता वाला है। उसकी इस योग्यता का क्रियात्मक रूप आत्मनिरीक्षण या आत्मचिंतन का है: अपने आत्मचिंतन में ही चेतना वह निरूपणात्मक अभिव्यक्ति बनती है जो शुद्धतः प्रतिभासात्मक (फिनामिना-लॉजिकीय) है। फिनामिनालॉजिकीय गवेषणा उक्त निरूपणात्मक अभिव्यक्ति से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तादात्म्य लक्षण वाला है। अतः यदि शुद्ध चेतना को गवेषणा का 'विषय' माना भी जाय तो यह कहना होगा कि वह 'विषय' रूप में भी अपने-आप में अंतर्भुक्त होकर आत्मनिरीक्षण व आत्मचिंतन की अपनी क्रियाओं द्वारा अपने स्व-रूप में प्रकट होता है।

(क) अनुभव-प्रवाह और अहं-चेतना :

अनुभव अपने-आप में एक निरंतर परिवर्तमान प्रवाह है और यही उसका अपना तात्विक या अपरिवर्तमान स्वभाव है। एक निरंतर परिवर्तमान प्रवाह के रूप में अनुभव वस्तुतः परिवर्तमान संज्ञानों का प्रवाह है जिसके अंतर्गत प्रत्येक संज्ञान-रूप अनुभव एक घटक के रूप में स्थापित होता है और स्मृति के सहारे अन्य घटकों से संश्लिष्ट होता रहता है। इस संश्लेष का सर्वत्र एक केंद्र-संदर्भ होता है जो अहं रूप चेतना है। इस आनुभविक अहं से सहयुक्त होकर ही विविध संज्ञान-रूप अनुभव एकत्वमूलक अनुभव-प्रवाह के घटक बनते हैं और परस्पर संश्लिष्ट हो सकते हैं। यह आनुभविक अहं-चेतना वास्तविक निर्देश की विधा वाली अहं-चेतना है, क्योंकि इसके संदर्भ से वस्तुप्रदायक अनुभवों में बहिर्वस्तु का निर्देश होता है। अतः यह उस शुद्ध अहं-चेतना से भिन्न है जिसकी विधा अ-वास्तविक निर्देश वाली है, जिससे आत्म-निर्देश होता है। वस्तुतः एक ही अहं-चेतना उक्त दो निर्देश-विधाओं वाली होती है।

बहिर्प्रत्यक्ष में चेतना की जो अहं रूप स्वरूपात्मक केंद्रस्थता या एकता, अनुभव-प्रवाह की संरचनात्मक एकता, व्यक्त होती है वह स्वतः अनुभव का तात्विक (स्थिर) रूप होने से सदैव संदेहातीत है जबकि उसी अनुभव-प्रवाह में उपस्थित अस्तित्वमूलक एकता के लक्षण वाली वस्तुएँ अनुभवातिक्रामी होने से सदैव संदेहाक्रांत होती हैं। अवश्य दोनों ही स्थितियों में 'एकता' पूर्ण होती है, किंतु जबकि केवल प्रथम स्थिति में वह तत्त्वतः 'अनिवार्य' है द्वितीय स्थिति में अपनी अस्तित्वमूलता से वह 'आवश्यक' भर है। चेतना की स्वरूपगत एकता स्वतः हमारी मानसिकता का अविभाज्य रूप है और इसलिए उसका वैसा होना हमारे लिए अनुल्लंघनीय रूप से अनिवार्य है। हमारी चेतना में वही एकमात्र अनिवार्यता है : 'मैं हूँ, यह जीवन है, मैं जीवित हूँ, मैं चेतन हूँ'। इस तरह मेरा अहं और उसके वैयक्तिक जीवन की स्थापना, जैसाकि वह अंतर्प्रत्यक्ष में प्रकट है, ही संदेहातीत और अनिवार्य है। अंतर्प्रत्यक्ष के 'विषय' स्वतः विविध बहिर्प्रत्यक्ष व अन्य संज्ञान हैं। अतः अंतर्प्रत्यक्ष का कोई बहिर्वस्तु-संदर्भ नहीं होता, हो नहीं सकता। इसीलिए उसके विषय-रूप अनुभवों को उसकी 'अंतर्वस्तु'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समझा जा सकता है, जो अनुभव-की-वस्तु (बहिर्वस्तु) की तरह अनुभवातिक्राम्यता या परता से युक्त नहीं हो सकती। उक्त 'अंतर्वस्तु' का रूप समग्रतामूलक एकत्व (अहं) के आंगिक अवयव की तरह होता है : संश्लिष्ट अनुभव-प्रवाह के अंतर्गत विभिन्न अनुभवों को घटक रूप कहने का आशय यही है—वे अंतर्प्रत्यक्ष-रूप अंतश्चेतना की अंतर्वस्तुएँ हैं। अनुभव-प्रवाह में इन्हीं विविध अनुभवों का एकात्म-रूप 'अहं' है; उससे अलग उसकी कोई सत्ता नहीं है।

जिस तरह एकत्वमूलक अहं-चेतना के कारण ही अनुभव-प्रवाह के अंतर्गत अंतर्वस्तुएं परस्पर संश्लिष्ट होकर बहिर्वस्तुओं की प्रस्तुति को संभव बनाती हैं, उसी तरह स्वतः मानसिक स्थितियों (जैसे, मैं हूँ) और मानसिक क्रियाओं (जैसे, मैं सोचता हूँ) को भी हम उसी अहं-चेतना के संदर्भ से अपने समक्ष ध्यान के विषय के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। किंतु तब उक्त दो प्रकारों की प्रस्तुति में एक मूलभूत अंतर होता है : जबकि बहिर्वस्तु से संबंधित चेतना में अनुभव और उसका विषय दोनों अपने पृथक्-पृथक् भावों में उपस्थित होते हैं—यथा वर्णाभास और उसकी अनुभूति, स्वतः मानसिक स्थितियों व क्रियाओं से संबंधित चेतना में अनुभव और उसके विषय की उपस्थिति में कोई भावपरक विलगाव नहीं होता। बहिर्वस्तु प्रस्तुतिकारक अनुभव का रूप होता है—प्रत्यक्षीकरण की क्रियाओं का 'वस्तु' पर प्रक्षेप (प्रोजेक्शन), जिससे न केवल 'वस्तु' वरन् उसका 'अनुभव' भी अतिक्रामी बन जाता है। दूसरी ओर, अंतरनुभूत अनुभव के रूप में अंतर्प्रत्यक्ष, जो वस्तुतः शुद्ध फिनामिनालॉजिकीय अनुभव है, का स्वरूप यह होता है : अनुभव-प्रवाह की अंतर्वस्तुएँ विषय होने पर भी स्वतः अनुभव हैं। अर्थात् अंतरनुभूत अनुभव में अनुभूत विषय और इन विषयों के अनुभव के बीच चेतना की एकात्मकता से कोई भावपरक विलगाव उपस्थित नहीं हो सकता। हुस्सर्ल के अनुसार, शुद्ध प्रतिभास (फिनामिनॉन्) का यह अवच्छेदक लक्षण है कि उसमें अनुभव और उसकी अंतर्वस्तु की पूर्ण एकता होती है।

पुनः, जिस तरह 'मैं हूँ', 'मैं सोचता हूँ' जैसी शुद्ध मानसिक स्थितियों व क्रियाओं को अपने समक्ष ध्यान का विषय बनाया जा सकता है, उसी तरह 'सामान्य चेतन अनुभव', अर्थात् स्वतः अहं-चेतना जिससे हम सहजतः व अव्यवहिततः संबंधित होते हैं, पर भी हम अपना ध्यान केंद्रित कर सकते हैं। और जब हम सचमुच ऐसा करते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका तात्विक संबंध अनुभव-प्रवाह से है। अंग्रेज़ दार्शनिक ह्यूम ने इसे भली-भांति देखा था किंतु वह यह न समझ सका कि इस तात्विक संबंध का अपना एक विशिष्ट रूप है। इसे जान लेने पर कोई ह्यूम की तरह यह मानने की ग़लती नहीं करेगा कि अनुभवप्रवाह के संदर्भ में किसी प्रकार की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भावरूप एकता या एकत्वमूलक चेतना नहीं हो सकती। द्रष्टव्य है कि ह्यूम यह अवश्य स्वीकार करता है कि अनुभव अनिवार्यतः परिवर्त्तनशील है और इसलिए वह उसके अंतर्गत द्रव्यरूप स्थिर आत्म या अहं-चेतना का नितांत अभाव पाता है : यहाँ तक उसकी मान्यता फिनामिनालॉजिकीय मान्यता से बिल्कुल मिलती-जुलती है। किंतु इससे आगे बढ़ कर फिनामिनालॉजिकीय दार्शनिक यह भी कहता है कि द्रव्य-रूप न होकर भी अहं-चेतना-रूप आत्म समग्र अनुभव-प्रवाह की संरचनात्मक एकता के आद्याधार-रूप में स्थिर है—अनुभव-प्रवाह इस आत्म का 'जीवन' है, इसी में वह विकसित होता और वृद्धि पाता है। स्वयं ह्यूम स्वीकार करता है कि अनुभव-क्रम में अभ्यास-जन्य अवशेष (हेबिट्यूअल रेज़िड्यू) बनता रहता है; किंतु वह यह नहीं देख पाता कि इस 'अवशेष' के जमाव और वृद्धि के लिए कोई आधार अनिवार्य है। यही 'आधार' फिनामिनालॉजी की अहं-चेतना है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि यह 'आधार' कांट के 'सम्प्रत्यक्ष की एकता' (यूनिटी ऑफ एप्पर्सेप्शन) रूप नहीं है; क्योंकि हुस्सर्ल के अनुसार अनुभव-प्रवाह तो स्वतः आत्म का जीवन है। किंतु, दूसरी ओर, कांट की यह धारणा कि 'संप्रत्यक्ष की एकता' सदैव हमारे अनुभव में पूर्व-प्रक्षिप्त है, हुस्सर्ल को अवश्य मान्य है—वस्तुतः यही उसके अनुसार अहं-चेतना के स्थायित्व का रूप है।

जैसाकि पहले कहा गया, शुद्ध अहं-चेतना अ-वास्तविक निर्देश या आत्म-निर्देश के लक्षण वाली है। इसके अंतर्गत विविध मनस्क्रियाएँ—जैसे प्रत्यक्षीकरण, चिंतन, आदि—स्वतः चेतना की अंतर्वस्तुएं बन कर प्रस्तुत होती हैं, इस तरह कि उनके एक ही चेतन-केंद्र से सहयुज्यता के कारण व्यक्ति की आत्म-चेतना एकात्म रूप में प्रकट होती है। यही एकात्म-रूप आत्म-चेतना सामान्य-रूप चेतना है, जो सद्यः रूप में समस्त मनस्क्रियाओं या अनुभवों के सारतत्व के रूप में पूर्ण तादात्म्य बन कर प्रकट होती है। इस सामान्य-रूप चेतना में ही आनुभविक अहं, अर्थात् अनुभव-प्रवाह में विशिष्ट विविध अनुभवों की सतत एकात्म चेतना, की एकरूपता का सही स्पष्टीकरण होता है। द्रष्टव्य है कि अहम्मनस् (आनुभविक अहं की विशिष्टता वाली मानसिकता) न केवल मनुष्यों में वरन् मनुष्येतर प्राणियों में भी होता है। किंतु यह केवल मानव-अनुभव-प्रवाह में स्थित अहम्मनस् का लक्षण है कि उसमें चेतना निरंतर 'जागृत' होती है, अर्थात् केवल उसी में सतत प्रवहमान अनुभव-शृंखला इस संभाव्यता का लक्षण व्यक्त करती है कि उसमें आनुभविक अहं के वास्तविक निर्देश से शुद्ध अहं के अ-वास्तविक निर्देश की दिशा में या इससे विपरीत क्रम में, गति हो सके।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(ख) चेतना की अभिप्रायात्मकता (विषयापेक्षा)

फिनामिनालॉजी में 'अभिप्रायात्मकता' का विशिष्ट अर्थ 'अधिग्रहणात्मक अभिप्राय' (एप्रिहेंडिंग इन्टेन्शन्) है। वस्तुतः चेतना के 'अभिप्रायात्मक' होने का अर्थ ही उसका 'अधिग्रहणात्मक' (अधि+ग्रहणात्मक) होना है। स्मरणीय है कि प्रदायक-अंतर्दृष्टि के रूप में वस्तु-प्रस्तुतिकारक अनुभव 'ग्रहणात्मक' अवश्य हैं किंतु 'अधि-ग्रहणात्मक' नहीं, क्योंकि उनमें अनुभूति या चेतना का स्वरूप प्रस्तावक न होकर प्रतिरूपणात्मक है। अब, केवल प्रस्तावक (प्रेज़ेन्टेश्नल) अनुभव ही अपनी पूर्णता और स्वयंप्रकाश्यता में प्रतिभास या फिनामिनॉन् रूप है; जबकि प्रतिरूपणात्मक (रिप्रेज़ेन्टेश्नल्) अनुभवों का प्रतिभास-रूप केवल अनुभवप्रवाह के अंतर्वस्तु रूप है— इस तरह के अनुभवों में विविध संज्ञानों या संवेदों के अलावा संवेग व सुखदुःखादि भी आते हैं। यही कारण है कि फिनामिनालॉजिकीय दर्शन में संवेदों को शुद्ध अनुभव रूप नहीं समझा जाता। संभवतः कांट ने भी इसीलिए संवेदों को अपने-आप में 'निष्क्रियता' (पेस्सिविटी) लक्षण वाला बताया और उन्हें उनके संदर्भ में होने वाली 'बौद्धिक क्रिया' से बिल्कुल भिन्न प्रकार का माना। दूसरी ओर, हुस्सर्ल ने उक्त संवेद-निष्क्रियता और बौद्धिक-सक्रियता का प्रकार-भेद नहीं माना यद्यपि उसने भी यह अवश्य स्वीकार किया कि स्वयं संवेद 'अर्थमूलक मनस्क्रियाएँ' नहीं हैं। किंतु तभी साथ ही हुस्सर्ल ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि उक्त 'अर्थयुत मनस्क्रियाओं के संदर्भ से अलग कर संवेदों को अनुभव के रूप में किसी तरह समझा नहीं जा सकता। ये अर्थयुत क्रियाएँ अनिवार्यतः अभिप्रायात्मक है। वस्तुतः हुस्सर्ल के लिए 'अर्थ' व 'अभिप्राय' एक ही हैं—जैसाकि हमने पिछले अध्याय में कहा। (द्रष्टव्य : हुस्सर्ल की मातृभाषा 'जर्मन में 'अर्थ' के लिए 'माइनुङ्' (meinung) शब्द है जिसका सीधा धात्वर्थ संबंध 'अभिप्राय' के लिए प्रयुक्त होने वाले 'माइनेन्' (meinen) शब्द से है। अतः 'अर्थ' मात्र में 'अभिप्राय' देखना हुस्सर्ल के लिए बिल्कुल स्वाभाविक है। बहुत-कुछ यही बात हिंदी और संस्कृत में भी देखी जा सकती है : अर्थ= आशय=अभिप्राय।)

अतः स्पष्ट है कि संवेदों की प्रदत्तता सदैव अनुभव-प्रवाह के घटक-रूप में ही होती है और इस रूप में वे अनिवार्यतः अभिप्रायात्मकता, अर्थात् उस लक्षण वाली बौद्धिक-सक्रियता, के धारक होते हैं : स्वयं अपने स्वरूप में प्रस्तुतिमूलक होने पर भी संवेद प्रति-चेतना या वस्तु-चेतना (वस्तु-निर्देश) के लक्षण वाले नहीं बन सकते; केवल मूल अभिप्रायात्मकता के 'धारक' होकर ही वे उक्त लक्षण से युक्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होते हैं। इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें विशुद्ध अ-बौद्धिक निष्क्रियता के रूप में नहीं समझा जा सकता। इसके विपरीत, पूर्णतः अनुभवान्तर्गत होने से वे अनिवार्यतः अभिप्रायावेष्टित और इसलिए बौद्धिक-क्रिया विशिष्ट होंगे ही।

हुस्सर्ल की अभिप्रायात्मकता की धारणा, जिसका महत्त्व ऊपर स्पष्ट किया गया, उसके शिक्षक गुरु ब्रेन्टानो की तत्संबंधी धारणा से प्रभावित है। हुस्सर्ल के ही शब्दों में : "ब्रेन्टानो द्वारा "अभिप्रायात्मकता की मध्ययुगीन अवधारणा का मनोविज्ञान की एक निरूपणात्मक मूल अवधारणा में प्रत्यावर्त्तन एक महत् अन्वेषण है, जिसके बिना फिनामिनालॉजी का अस्तित्व में आ सकना असंभव था"। ब्रेन्टानो ने निरूपणात्मक मनोविज्ञान को प्रयोगात्मक मनोविज्ञान से भिन्न माना—प्रथम का संबंध मानसिक स्थितियों व क्रियाओं के निरूपण से है जबकि द्वितीय उनका कारणात्मक अध्ययन करता है। ब्रेन्टानो द्वारा प्रतिपादित उक्त निरूपणात्मक मनोविज्ञान को ध्यान में रखते हुए हुस्सर्ल ने अपने प्रारंभिक लेखों में फिनामिनालॉजी को "मानसिक प्रतिभासों का विशुद्धतः निरूपणात्मक अध्ययन" कहा है।

निरूपणात्मक मनोविज्ञान के संबंध में ब्रेन्टानो की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान्यता यह थी कि अभिप्रायात्मकता 'मानसिक' का अनिवार्य व पर्याप्त लक्षण है जो उसे 'भौतिक' से पृथक् करता है। चिंतन, विश्वास, इच्छा जैसी हमारी मनस्क्रियाएं अनिवार्यतः वस्तु-निर्देशात्मक हैं, अर्थात् वस्तुएँ उनके निर्देश-संदर्भ में आवश्यक हैं; यद्यपि न तो स्वयं उन वस्तुओं के लिए इस तरह का निर्देश आवश्यक है और न ही उनके उक्त तरह से निर्देशित होने का ही यह तात्पर्य है कि वे अनिवार्यतः अस्तित्ववान् हैं। वस्तुतः, ब्रेन्टानो के अनुसार, अभिप्रायात्मक निर्देश के संदर्भ में विशिष्ट 'विषय' स्वतः 'मानसिक' में ही अंतर्भाव्य रहता है जबकि जो-कुछ 'भौतिक' है उसका विषय-रूप स्वयं उसमें अंतर्भाव्य नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु का 'विषय' बन सकने के लिए मानसिकता आवश्यक है। 'मानसिक' में उक्त अभिप्रायात्मकता और उसके विषय की पूर्ण अंतर्भाव्यता के ही कारण ब्रेन्टानो उसे 'मानसिक' का अनिवार्य व पर्याप्त लक्षण मानता है। फिर 'भौतिक' की अस्तित्वमूलक परता या बहिरस्तित्व की तुलना 'मानसिक' की उक्त पूर्ण अंतर्भाव्यता से करते हुए वह 'मानसिक' के (अभिप्रायात्मक) 'अंतरस्तित्व' की बात कहता है। अब चूंकि ब्रेन्टानो के लिए 'भाव' (बींग) और 'बहिरस्तित्व' (एक्जिस्टेंस) समानार्थक शब्द हैं, वह मानसिक को अपने-आप में अभिप्रायात्मक अंतरस्तित्व का लक्षण वाला मानते हुए भी उसे कोई भाव प्रदान नहीं करता। यही कारण है कि, ब्रेन्टानो के अनुसार, अभिप्रायात्मक निर्देश में केवल बहिरस्तित्वमूलक या वास्तविक वस्तुएँ ही पूर्णरूपेण निर्देश्य वस्तुएँ बन सकती हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह सही है कि कई बार अभिप्राय-निर्देश से हम अ-वास्तविक यथार्थ (जैसे, काल्पनिक) वस्तुओं—जिन्हें ब्रेन्टानो 'संक्षेप' (एब्रिविएशन्स्) भी कहता है—की बात करते हैं, किंतु उसका मत है कि इस तरह के निर्देशात्मक वाक्यों को उन वाक्यों में अनूदित किया जा सकता है जिनमें केवल ठोस या वास्तविक यथार्थ वस्तुएँ ही निर्देशित हों। द्रष्टव्य है कि ब्रेन्टानो का यह 'ठोस वस्तुवाद' (रीज़म=reism) समकालीन तार्किक-अनुभववाद की इस धारणा से काफी मिलता-जुलता है कि यथार्थ का रूप केवल ठोस वस्तुओं से बनता है।

किंतु स्वयं हुस्सर्ल के प्रतिभासवादी अनुभववाद में ब्रेन्टानो का उक्त ठोस वस्तुवाद मान्य नहीं है। अवश्य वह ब्रेन्टानो की अभिप्रायात्मकता की धारणा को उसके मूल में स्वीकार करता है, किंतु उस संदर्भ में 'भाव' और 'बहिरस्तित्व' की उसकी धारणाओं को वह अस्वीकार कर देता है। इस दृष्टि से वह माइनॉङ् के अधिक निकट है : जो-कुछ भी अस्तित्ववान् (बहिरस्तित्वमूलक) है, अर्थात् देश-कालिक वस्तुएँ, उनका अवश्य अपना एक भाव है जो विषय-रूप में उनकी परता से स्पष्ट है। किंतु दूसरी ओर, जो-कुछ भी भाववत् है उसके लिए अनिवार्यतः उक्त ढंग से अस्तित्ववान् होना आवश्यक नहीं है—जैसे 'तत्त्वों' के अस्तित्ववान् होने की अनिवार्यता।

यह भी द्रष्टव्य है कि ब्रेन्टानो की तरह हुस्सर्ल अभिप्रायात्मकता को 'मानसिक' का पारिभाषिक लक्षण नहीं मानता। विशुद्धतः प्रदायक-अनुभव (संवेद) अपने-आप में अभिप्रायात्मक नहीं हैं, जबकि जिन्हें वह 'अर्थयुत अनुभव' कहता है, अनिवार्यतः अभिप्रायात्मक हैं। एक ही अनुभव-प्रवाह के अंतर्गत 'प्रदायक-अनुभव' और 'अर्थयुत अनुभव' के परस्पर भेद और संबंध के एकात्मरूप से घनीभूत समग्र क्षेत्र को वह 'मानसिक' कहता है। पुनः, हुस्सर्ल ब्रेन्टानो की इस धारणा को भी अस्वीकार करता है कि अभिप्रायात्मकता-संदर्भ में 'मानसिक' की कोई 'आंतरिकता' (अंतरस्तित्व) भी होती है। यह सही है कि हम अंतर्प्रत्यक्ष में प्रदायक अनुभवों को अनुभव-प्रवाह के अंतर्गत अंतर्वस्तु-रूप से अंतर्भाव्य पाते हैं, किंतु हुस्सर्ल के अनुसार उनका यह रूप विवरणात्मक है, अभिप्रायात्मक नहीं। अतः वह किसी प्रकार की मानसिक आंतरिकता या अंतरस्तित्व प्रकट कर सकने में असमर्थ है।

स्मरणीय है कि प्रदायक अनुभव द्वारा वस्तु-प्रस्तुति का रूप अवश्य अभिप्रायात्मक होता है क्योंकि चेतना में 'विषय-अधिग्रहण' का रूप ही किसी विशेष निर्देशात्मकता या 'दृष्टिकोण' से युक्त होता है—इसी से वस्तु निश्चिततः प्रकट होती और हो सकती है। न केवल 'ज्ञात' रूप में वरन् उपयोगी, मूल्यवान्, सुखद, आशा-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नुकूल आदि रूपों में भी। इन बाद वाले रूपों में निश्चित वस्तु ही 'आदर्श' (कांक्ष्य) हैं जबकि शुद्धतः निर्देशित विषय रूप से वही अस्तित्वशील वस्तु है। अस्तित्वशील वस्तु अनुभवातिक्रामी वस्तु है जिसे अभिप्रायमूलक चेतना अनुभवान्तर्गत प्रदत्त से संयुक्त करती है। इन वस्तुओं का निर्देश कई तरह से संभव है—प्रत्यक्ष, चिंतन, संदेह, कल्पना आदि द्वारा। इस दृष्टि से 'वस्तु' इन विविध क्रियाओं के 'निर्देश-ध्रुव' की तरह है। दूसरी ओर, अभिप्राय-चेतना एक संश्लेषणात्मक प्रक्रिया है जो पृथक्-पृथक् प्रदत्तों को एक वस्तु रूप में घनीभूत करती है—यही हुस्सर्ल के अनुसार 'वस्तुनिष्ठता' का रूप है। उक्त 'निर्देश-ध्रुव' रूप वस्तु और 'वस्तुनिष्ठता' रूप वस्तुत्व के बीच अनिवार्य संबंध इस तरह का है : वस्तु का प्रत्येक पक्ष उन संबंधित पक्षों का निर्देश करता है जो उसके 'क्षितिज' के रूप में सक्रिय होता है। इससे एक पक्ष के अनुभव से अन्य संबंधित पक्षों की अपेक्षा की जाती है—यह वस्तु की प्रातिभासिक संरचना का ही अंग होने से 'नियम' रूप है। वस्तु की प्रातिभासिक संरचना अभिप्रायमूलक चेतना में ही रचित होती है जो अर्थाभिप्राय-क्रिया के अंतर्गत 'शून्य-अभिप्राय चेतना की 'अंतर्ज्ञानात्मक परिपूर्ति' से संभव होता है। प्रथम स्थिति में वस्तु प्रतीकात्मक होती है जबकि द्वितीय स्थिति में वहाँ निश्चित अर्थ से युक्त हो जाती है।

पुनः, हुस्सर्ल के अनुसार, उक्त अभिप्रायमूलक 'दृष्टिकोण' से ही यह संभव हो पाता है कि फिनामिनालॉजिकीय गवेषणा के अंतर्गत उसकी 'विषय-वस्तु' की जांच-परख की जा सके, उसकी विश्लेषण-व्याख्या हो सके, जो उसके 'ग्रहण' होने वाले रूप से बिल्कुल भिन्न है। इस 'भिन्न' तत्त्व से ही अभिप्रेत वस्तु को पूर्णता (फुलनेस) मिलती है जो अन्यथा केवल निर्देशित 'विषयवस्तु' बन कर रह जाती है। 'पूर्णतः अभिप्रेत वस्तु' ही, हुस्सर्ल के अनुसार, व्याख्याओं, वस्तु-संबंधों, प्रत्ययात्मक प्रस्तुतियों, विधानात्मक विवरणों आदि का आधार है।

(ग) शुद्ध अहं का स्वरूप :

अब हम शुद्ध अहं के स्वरूप की सही विवेचना प्रस्तुत कर सकते हैं।

चेतना का स्वयंप्रकाश्य प्रतिभास रूप, हुस्सर्ल के अनुसार, अनिवार्यतः अहम्मूलक है। वस्तुतः विविध अहमनुभवों की आंतरिक प्रातिभासिक एकत्वमूलकता ही चेतना है। जैसाकि पहले कहा गया, फिनामिनालॉजिकीय अलिप्तता में प्राकृतिक दृष्टिकोण से विशिष्ट समग्र-जगत्—'मुझ एक व्यक्ति (मनुष्य)' सहित—का निलंबन हो जाने के पश्चात् केवल शुद्ध अनुभव ही शेष रह जाता है। यह शुद्ध अनुभव क्रिया-रूप है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह ग्रहम्मनस् की क्रिया है। इस शुद्ध अनुभव के भीतर साधारण-असाधारण, सही-ग़लत का प्रश्न नहीं उठता। द्रष्टव्य है कि यह अनुभव 'प्रतिभास' होने से स्वतः प्रतिभासित नहीं होता—केवल अनुभव-जगत् की वस्तुएँ ही प्रतिभासित होती हैं। यह फिनामिनालॉजिकीय अनुभव, अहम्मनस् की क्रिया और स्वतः शुद्ध अहम् 'आदर्श-रूप' हैं, क्योंकि वे प्रतिभासित नहीं हो सकते। किंतु वे 'कांक्ष्य' के अर्थ में 'आदर्श' नहीं हैं। उनका स्वरूप शुद्ध अनिवार्यता का है।

उक्त फिनामिनालॉजिकीय 'अनुभव' की धारणा की अपनी कुछ विशिष्टताएं हैं। जैसे, इस अनुभव-चेतना में १९७१ के भारत-पाक युद्ध की घटनाएं स्वतः 'मानसिक अनुभूतियों' के रूप में उक्त चेतना की अंतर्वस्तुएँ नहीं हो सकतीं। उसमें अंतःस्थ प्रत्यक्षीकरण, निर्णय आदि की क्रियाएँ ही अंतर्भाव्य होंगी और इन क्रियाओं का विषय-संदर्भ बदलता रहता है। तदनुसार, बाह्य विषय-वस्तु के अनुभव का अर्थ है उन पर किन्हीं अंतःस्थ क्रियाओं का निक्षेप। इसका फिनामिनालॉजिकीय तात्पर्य है कि कुछ 'अंतर्वस्तुएँ' चेतना की एकात्मकता के घटकांश हैं जिन्हें किसी तरह 'वस्तु-अनुभव' के रूप में नहीं समझा जा सकता। दूसरी ओर, चेतना की एकता का रूप वाला आनुभविक अहं अंतःस्थ समग्रता है जो विविध घटकांशों से बनता है और जिसका प्रत्येक अंश (घटक) स्वतः अंतःस्थ अनुभव है। यहाँ अनुभव और अनुभूत या ज्ञात अंतर्वस्तु के बीच कोई भेद नहीं है—मानो संवेद-का-विषय स्वतः संवेद है। किंतु तब अनुभव के वास्तविक निर्देश में विशिष्ट वस्तु संवेद-का-विषय नहीं है; तब वह केवल प्रत्यक्षीकृत, अभिधेय आदि है।

वस्तुतः अपचय की प्राविधिक क्रियाशीलता में तीन 'अहं' स्पष्ट होते हैं: (१) जगत्-लिप्त अहं—मैं (व्यक्ति) मनुष्य जो देखता-सुनता आदि हूँ, (२) परात्मक अहं और (३) अलिप्त द्रष्टा अहं। अहं के संबंध में ये भेद वस्तुतः आत्म-चिंतन के मात्रा भेद से उपस्थित होते हैं; किंतु इससे स्वतः उनके विशिष्ट तादात्म्य में कोई बाधा नहीं आती। 'आत्म-चिंतन' अहं द्वारा उसके अपने अनुभवों पर आत्म-निर्देश (सेल्फ-डायरेक्टिंग) है। इस तरह के अंतर्प्रत्यक्ष द्वारा ही हमें अनुभव-प्रवाह का तथा उससे शुद्ध अहं के अनिवार्य संबंध का बोध हो पाता है। जगत्-लिप्त या प्राकृतिक आत्मचिंतन में अहं 'मनुष्य' पर प्राकृतिक दृष्टिकोण की सीमाओं के भीतर ही विचार करता है। परात्मक आत्म-चिंतन के अंतर्गत उक्त अहं को जगत्-विचार में अपचयित कर दिया जाता है और उसके स्थान पर एक 'चिंतन-कर्त्ता' अहं आ जाता है। किंतु तब यह 'चिंतन-कर्त्ता' अहं जगत्-लिप्त अहं को अप्रामाणिक सिद्ध नहीं करता और न ही वह जगत् के प्रति उसके विश्वास

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को झुठलाता है। इसके विपरीत, यह अनुभवातीत या परात्मक अहं कालिकता का आद्य-विधान अपनी क्रियाशीलता में प्रकट करने के कारण समस्त वस्तुनिष्ठतापरक विधानों या रचनाओं का मूलाधार बन कर प्रकट होता है—अर्थात् स्वतः जगत् के तात्विक भाव व ज्ञान का आद्याधार। जब यही अनुभवातीत अहम् अपनी आत्म-चिंतन की विधा में स्वतःप्रमाण आद्याधार समस्त भाव व ज्ञान के संदर्भ में बन कर स्पष्ट होता है उसका रूप अलिप्त-द्रष्टा अहं का होता है। तब वह जगत् के 'विश्वास' में सहभागी नहीं होता, जगत् उसके लिये प्रामाणिक नहीं रह जाता। तब 'वह' (जगत्) केवल एक प्रतिभास होता है जो उस परात्मक या अनुभवातीत अहं से सहयुज्य होता है जो इस अलिप्त द्रष्टा अहं के संदर्भ से स्वतः 'विषय-रूप' है। यह 'विषय' वह जीवन—मानसिकता—है जिससे समस्त प्रामाणिकताएँ उद्भूत होती हैं। यह जीवन जो फिनामिनालॉजिकीय विधि द्वारा ही उपलब्ध है, एक 'सृष्टि' है, जो प्राकृतिक-वैज्ञानिक जीवन की 'ग्राह्यता' से विपरीतता लक्षण वाली है। इस दृष्टि से चेतना अनिवार्यतः 'रचनात्मक' (कांश्टीट्यूटिव) है। किंतु इस रचना या सृष्टि का अर्थ न तो 'ग्रहण करना' है और न ही 'उत्पन्न करना' है। उसे किसी वस्तमूलक प्रत्यय के आधार से नहीं समझा जा सकता। वह एक ऐसा 'संबंध' है जिसे केवल फिनामिनालॉजिकीय गवेषणा की प्रक्रिया द्वारा ही निर्देशित किया जा सकता है। यह गवेषणा स्वतःप्राकाश्य है, इसे किसी अन्य आधार से असिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यही सभी सिद्धता या प्रामाण्य का आधार है।

सारांश यह कि समस्त मनस्क्रियाओं के कर्त्ता-रूप शुद्ध अहं—जो उक्त परात्मक अहं और अलिप्त द्रष्टा अहं का रूप वाला है, जैसाकि वह फिनामिनालॉजिकीय गवेषणा में क्रमशः प्रकट होता है—को किसी भी विधि द्वारा हटाया नहीं जा सकता। निर्देश, दृष्टिकोण, व्यथा, आकांक्षा आदि में अनिवार्यता का तत्त्व वही है—अर्थात् या तो वे 'अहं के लिए' (विषय-रूप) कुछ हैं, या 'अहं से उद्भूत' (संरचित) कुछ हैं। अहं का जो स्वरूप इस तरह से प्रकट है वही हुस्सर्ल का 'शुद्ध अहं' है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि 'अहं' स्वतः अपने-आप से और अपने लिए किसी गवेषणा का विषय नहीं हो सकता। अपने संबंधों व क्रियाओं से अलग वह पूर्णतः तत्त्व-शून्य है। अपने-आप में स्वतः अपने लिए वह अचिंत्य और अनिर्वचनीय है।

किंतु उक्त संदर्भ-अनिवार्यता के बावजूद हम अनुभव की द्विपक्षीय विलक्षणता की बात कर सकते हैं—स्वतः अनुभव और अनुभव-प्रक्रिया का कर्त्ता-रूप शुद्ध अहं,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुभवान्तर्गत अहं के 'विषय' से संबंधित वस्तुनिष्ठता का पक्ष और अनुभवान्तर्गत स्वतः अहं की विशुद्ध आत्मनिष्ठता का पक्ष। किंतु स्मरणीय है कि उक्त प्रथम पक्ष द्वितीय पक्ष से स्वतंत्र न होकर उसके द्वारा संरचित है जबकि द्वितीय पक्ष स्वतः अपने-आप में पूर्णतः असंदिग्ध प्रदत्तता (संरचना नहीं) है। इस दृष्टि से शुद्ध अहं स्वतंत्र तात्विक भाव रूप है, यद्यपि वह केवल अपनी क्रियाओं में जीवित रहता है।

फिनामिनालॉजिकीय अपचय-प्रक्रिया में अवशिष्ट रूप से प्रस्तुत तथा फिनामिना-लॉजकीय गवेषणा द्वारा अपना स्वरूप स्पष्ट करने वाले शुद्ध अहं की यह विशिष्टता भी द्रष्टव्य है कि वह अपने अनुभव-प्रवाह की अंतर्वस्तुओं में सीमित रहता है, उनसे अलग या उनसे ऊपर 'कुछ' नहीं होता। प्रत्येक अनुभव-प्रवाह को विशिष्ट करने वाला उसका अपना 'अहं' होता है। अहं की एकत्वमूलक केंद्रस्थता से बँधा विशिष्ट अनुभवप्रवाह उस अहं का वैयक्तिक जीवन है जो उसे पूर्णतः व्याप्त करता है और इसीलिए वह जीवन स्वतः अनिवार्य और असंदिग्ध होता है। किंतु स्मरणीय है कि किसी अनुभव विशेष में कोई स्वरूपगत या तात्विक अनिवार्यता नहीं होती, केवल समग्र अनुभव-प्रवाह अपने अहं के वैयक्तिक जीवन के रूप में अनिवार्य होता है। दूसरी ओर, स्वयं शुद्ध अहं की अनिवार्यता सैद्धांतिक है, जो किसी अनुभव के अंतर्गत या उससे उद्भूत नहीं है, वरन् जो उसके पूर्णतः तादात्म्य रूप तथा अबाधित आद्याधार रूप होने से है। अवश्य शुद्ध अहं की 'दृष्टि' अनुभवों में परिवर्त्तन के साथ-साथ बदलती है किंतु रहती वह सभी अनुभवों के साथ है। अपने इस अनिवार्य अनुभव-प्रक्षेप से शुद्ध अहं 'परता' के लक्षण के वाला बनता है, जिसका विशिष्ट रूप है—अंतस्थता-में-परता। इस तरह के लक्षण वाले शुद्ध अह से अनिवार्य संदर्भ वाला होने से जगत्-भाव अपना एक विशेष लक्षण प्रकट करता है—तब जगत् अनुभवातिक्रामी प्रामाण्यताओं का जगत् होता है जो उसके ज्ञान की वस्तुनिष्ठता का आधार है। जगत् के उसके निज-भाव में प्रतिष्ठा—जिसे सभी प्राकृतिक विज्ञान पूर्वमान्य तो करते हैं, किंतु उसकी सम्यक् विवेचना कर पाने में असमर्थ होते हैं—के प्रश्न का यही एकमात्र पूर्वमान्यतारहित उत्तर है जो फिनामिनालॉजिकीय दर्शन देता है।

शुद्ध अहं के स्वरूप का तादात्म्य व अनिवार्यता का अर्थ यह नहीं है कि वह द्रव्य रूप 'कुछ' है। हुस्सर्ल के लिए निरंतर परिवर्तमान जो अनुभव-प्रवाह है वही अपनी सततता में तादात्म्य रूप है। इस द्वि-विधात्मक चेतना में न केवल वास्त-विकताएँ वरन् संभावनाएँ भी रचित होती हैं और उनका स्वरूप वही होता है जिस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप में वे रचित होती हैं। अतः सभी-कुछ सभी अहम्मनसों के लिए समानतः संभव नहीं है : जिस अहं की जो संभावना है वह बस उसी अहं के लिए है। यहां हुस्सर्ल की यह मान्यता भी महत्त्वपूर्ण है कि अपनी वास्तविकताओं की ठोस रचना से अहं स्वयं ठोस स्थायी रूप में प्रतिष्ठित होता है, जबकि अपनी संभावनाओं की रचना द्वारा वह अपने समग्र अर्थ-क्षेत्र के लिए 'क्षितिज' की सृष्टि करता है। पुनः, विविध संभावनाओं में भी एक क्रमबद्धता हो सकती है—इस तरह कि कुछ संभावनाएं किन्हीं अन्य संभावनाओं के वास्तविकीकरण पर निर्भर होती हैं। हुस्सर्ल के अनुसार, यही क्रमबद्धता वह प्रमाण प्रस्तुत करती है जिससे अहं को एकत्वमूलक आत्म रूप से जाना जाता है। दूसरी ओर, चूंकि रचित वास्तविकताओं (वस्तुनिष्ठताओं) का सतत जमाव (सेडीमेंटेशन) होता रहता है, अहं इस अहं (विशिष्ट आत्म), अर्थात् इन संभावनाओं के क्षितिज वाले अहं के रूप में निश्चित होता है। अतः स्पष्ट है कि शुद्ध अहं के आत्म रूप में तादात्म्य व अनिवार्यता का लक्षण उसके द्रव्य होने से नहीं है : आत्म-रचना (आत्म-विधान) ही, जो अनुभव-प्रवाह की सततता में प्रकट है, उसे तादात्म्ययुक्त, स्थायी व अनिवार्य बनाती है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि फिनामिनालॉजिकीय दर्शन में जगत्-भाव को अमूर्त प्रत्ययवत्ता व अज्ञेयता से सुरक्षित रखा जाता है। वह कोई भी जगत् न होकर ठोस अहं का जगत् होता है। तब जगत् के बारे में बात करने का अर्थ ही एक स्थायी ठोस आत्म-संदर्भ की बात करना है।

कार्तेशियन मेडीटेशन्स (Cartesian Meditations) के अंतिम परिच्छेद में हुस्सर्ल ने इसकी चर्चा चलाई है कि कैसे परात्मक अहं अन्य अहं का विधान कर एक अंतर्मानस समाज के अंतर्गत विविध व्यक्ति रूप मनुष्यों को पारस्परिक समानता प्रदान करता है। हुस्सर्ल स्वीकार करता है कि काफी हद तक अन्य मनस् का हमारा ज्ञान अप्रत्यक्ष या परोक्ष है। यहां स्थिति बहुत-कुछ वैसी ही है जैसे तीन आयामों वाली किसी वस्तु की ओर बढ़ते हुए केवल उसके अग्र को देख पाना। फिर भी कुछ मूल अंतर है : बिल्कुल पास आने पर वस्तु का सभी आयामों से प्रत्यक्षीकरण किया जा सकना संभव है, जबकि अन्य मनस् के संबंध में यह संभव नहीं। यहां स्थिति संक्षेप में कुछ इस तरह है : जब हम अपने से पृथक् किसी अन्य शरीर को वहां देखते हैं, अर्थात् 'यहाँ' नहीं देखते, तब हम स्वयं अपने अहं के 'समतामूलक सादृश्य' के आधार से (जो सादृश्यमूलक अनुमान नहीं है) उस शरीर का अन्य मनस् के शरीर के रूप में संप्रत्यक्ष करते हैं जो अपनी प्रस्तुति में अव्यवहित होता है। इस प्रक्रिया में 'सादृश्यकारक अहं' और 'सदृशकृत अहं' के विशिष्ट सहयुज्य में एक 'युग्म' बन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाता है। इस तरह, यद्यपि अन्य अहं ठीक-ठीक प्रत्यक्ष्यतः बोध्य नहीं तथापि उसे हमारे अपने अहं का एक परिवर्तित रूप समझा जा सकता है जिसे हम उक्त संबंधित शरीर में रख देते हैं। इस तरह विधान-सम्मत रूप में प्रतिष्ठित अन्य अहं भी परात्मक होता है जो हमारे अपने शुद्ध अहं के साथ मिल कर "अहम्मनसों के समाज" की रचना करता है।

(घ) चेतना की कालिकता :

उपर्युक्त अनुभव-प्रवाह की सततता तथा अभिप्रायमूलक संरचना में क्रमबद्धता, जो उसकी योजनाबद्धता का ही दूसरा नाम है, से स्पष्ट है कि उसके संदर्भ में स्पष्ट होने वाले एकत्वमूलक अहं या आत्म का स्वरूप अनिवार्यतः कालिक होगा। यहाँ जिस फिनामिनालॉजिकीय 'काल' की चर्चा है वह प्राकृतिक दृष्टिकोण में विशिष्ट काल नहीं है—यद्यपि यह बाद वाला 'विश्व-काल' उक्त प्रथम फिनामिनालॉजिकीय (अर्थात् अंतःस्थ) काल का ही वस्तु-संदर्भ से अभिव्यक्त रूप है, जिसका अपना रूप बाह्यता या स्वतंत्रता का है।

फिनामिनालॉजिकीय 'काल-चेतना' का अर्थ ही 'चेतना-की-अनिवार्य-कालिकता' है जिससे कि काल की अनिवार्य अंतःस्थता प्रकट होती है। यहाँ काल चेतना की उसकी अपनी संरचनात्मक विशिष्टता के रूप में स्पष्ट है। हुस्सर्ल के अनुसार, उक्त संरचनात्मक विशिष्टता वस्तुतः एक 'नियम' है : वह अनिवार्यतः चेतना रूप होने से ही स्वतः प्रतिभास रूप है, अर्थात् वह काल जो चेतना में अव्यवहित रूप में प्रकट है। यह 'काल' अनुभव-प्रवाह में ही अंतःस्थ है। जैसे, संगीत—श्रवण-चेतना में ताल और तालैक्य में जो क्रमबद्धता प्रकट होती है वह शुद्धतः अंतःस्थ है, जो अनुभव या चेतना के एकात्म होने से पूर्णतः अनिवार्य है—जबकि बाह्यवस्तुमूलक एक घटना-विशेष होने से वही आकस्मिक क्रमबद्धता का लक्षण वाला काल है, जिसका स्थगन (निलंबन) फिनामिनालॉजिकीय दृष्टिकोण में हो जाता है क्योंकि यह निलंबित प्राकृतिक दृष्टिकोण में ही अंशभूत है।

हुस्सर्ल का मत है कि चेतना में संरचनामूलक कालिक नियमों के ही कारण चेतना का अभिप्रायात्मक विधान स्वैच्छिक प्रक्षेप होने से बच पाता है। ये नियम इस प्रकार हैं : चेतना की प्रत्येक क्रिया (मनस्क्रिया) के लिए आवश्यक है कि वह कालिक हो—न केवल विशिष्ट क्रिया-रूप में वरन् विविध-क्रियाओं के परस्पर सम्बन्ध रूप में भी। इस तरह, कालविशिष्ट मनस्क्रिया स्वतः इन विशेष क्रियाओं और उनकी कालिक सततता के बीच पूर्ण सामंजस्य है। द्रष्टव्य है कि 'काल' की इस समझ से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्म-निष्ठता तथा वस्तुनिष्ठता दोनों को एक ही अहम्मनस् में प्रतिष्ठित समझना सरल हो जाता है। द्वितीय, चूंकि फिनामिनालॉजिकीय 'काल' वह 'व्यावहारिक काल' नहीं जो मापा जा सके और इसलिए जिसका अपना रूप सतत 'नियोजित क्रमबद्धता' का है, उसमें न केवल 'पूर्व-पश्चात्' का क्रम अनिवार्यतः नियमबद्ध है, साथ ही वह क्रम भी पूर्णतः नियमबद्ध है जो पूर्वगामी और पश्चाद्गामी से बनता है। यह नियम सर्वप्रथम चेतना की किसी क्रिया-विशेष पर प्रयुक्त होता है, जैसे प्रत्यक्षीकरण की क्रिया पर। चूंकि प्रत्यक्ष-क्रिया किसी क्षण-विशेष में बाँधी नहीं जा सकती, वह अनिवार्यतः अपने भाव में प्रत्यक्षीकृत (स्मृत) और प्रत्यक्ष-योग्य (भविष्यमूल अपेक्षा) को समाहित करती है। इस उदाहरण में पूर्व-पश्चात् का तात्विक क्रम स्पष्ट है। किन्तु स्वतः तत्व केवल अनुभव के निरन्तर कालिक-प्रवाह में ही निश्चित होते हैं—यद्यपि हुस्सर्ल द्वारा इसका पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं किया गया कि तत्व कालिक होकर भी किस तरह स्थायी बने रह सकते हैं। शायद हुस्सर्ल उनके स्थायित्व को शुद्ध अहं के स्थायित्व से जोड़ना चाहता है।

किसी विशेष अनुभव-क्रिया की कालिकता और स्वतः अनुभव-प्रवाह की कालिकता के बीच का यह अन्तर भी द्रष्टव्य है: प्रत्येक अनुभव-विशेष का आरम्भ और अंत होता है, जबकि स्वतः अनुभव-प्रवाह का आरंभ-और-अंत नहीं होता। कालिक रूप में प्रत्येक अनुभव-विशेष उसके शुद्ध अहं का एक अनुभव है। और इसी में यह संभावना अनिवार्यतः अंतर्निहित है कि उस अनुभव-विशेष पर अपने शुद्ध वैयक्तिक दृष्टि-निक्षेप द्वारा अहं उसे एक वास्तविक भाव के रूप में ग्रहण करे, अर्थात् उसे फिनामिनालॉजिकीय काल में अंतर्भाव्य करे। पुनः, शुद्ध अहं द्वारा उक्त ग्रहण स्वतः वस्तु-स्थिति में उपस्थित काल के प्रस्तुत रूप के ही अनुकूल होता है। और वस्तु-स्थिति में ही प्रतिभास-रूप से प्रकट काल का प्रस्तुत रूप इस प्रकार का है: अभी (नॉउ) की कालिक विधा, जिसमें एक विशिष्ट 'अभी' और साथ ही सिद्धांततः प्रत्येक 'अभी' अंतर्भूत हैं, के साथ अनिवार्य निरंतरता में एक नया (सततरूपेण नया) 'अभी' जुड़ता रहता है, और इसीलिए प्रत्येक वास्तविक 'अभी' उसमें बदल जाता है जो अभी-अभी गत हुआ, तथा जो अभी-अभी गत हुआ वह सदैव नूतन अभी-अभी विगत में बदलता चला जाता है। इस तरह, जबकि 'अभी' अपनी निरंतरता में सदैव तत्त्वतः विद्यमान रहता है, वही अपनी स्मृति की निरंतरता में सदैव भूतकालिक हो जाता है। दूसरी ओर, 'अभी' से सततरूपेण जुड़ने के लिए तत्पर 'अभी' अपनी संभाव्यमूलक निरंतरता में एक सदा उपस्थित भविष्य-काल को प्रकट करता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस तरह स्पष्ट है कि 'पूर्व' (बिफ़ोर) की धारणा 'अभी' का ही एक परिवर्त्तित रूप है; इसी तरह 'पश्चात्' (आॅफ्टर) की धारणा भी। स्वतः 'अभी' शुद्ध अहं का कोई भी विशेष अनुभव हो सकता है, जो ध्यान द्वारा निश्चित हो। तब, शुद्ध अहं के संदर्भ वाले अनुभव-प्रवाह में एकत्वमूलकता का अर्थ उक्त काल-विस्तार है जो 'अभी' के केन्द्र से आद्य-अनंतरूपेण 'पूर्व-पश्चात्' तक फैल जाता है; और चूंकि 'अभी-पूर्व-पश्चात्' अनिवार्यतः परस्पर संवद्ध हैं—जो फिनामिनालॉजिकीय काल-चेतना का ही अपना रूप है—अनुभव-प्रवाह की एकात्मकता, अहं का तादात्म्य, भी अनिवार्य है।

संक्षेप में : प्रवहमान चेतना में वर्तमान की एक आद्यनुभूति होती है जो भूत के अव्यवहित 'धारण' (रिटेन्शन)—जो सक्रिय स्मृति से भिन्न है—तथा भविष्य के अव्यवहित 'अध्याहरण' (प्रोटेन्शन)—जो सक्रिय अपेक्षा से भिन्न है—के क्षितिज से चतुर्दिक घिरा होता है। वर्तमान की चेतना सतत रूप से उक्त अनुभव-प्रवाह की सतह के नीचे पैठती और जमती जाती है, जहाँ केवल स्मृति की पहुँच संभव है।

(ङ) अभिप्रायात्मक अधिग्रहण : अर्थक्रिया और वस्त्वर्थ

हम पहले ही दो प्रकार के अनुभवों में अंतर कर चुके हैं : वे अनुभव जो अनुभव-प्रवाह में अंतर्वस्तु-रूप हैं, अर्थात् जो स्वतः अभिप्रायात्मक क्रिया रूप नहीं हैं किंतु अनुभव-प्रवाह में होने से अभिप्राय-संदर्भ वाले बनते हैं; दूसरे वे अनुभव जो स्वतः-क्रिया रूप में अभिप्रायात्मकता के लक्षण वाले हैं। प्रथम प्रकार के अनुभवों को अनुभव-प्रवाह की एकात्मता के संदर्भ में 'विषय' या 'उपादान' (hyle) समझा जाता है, जबकि द्वितीय प्रकार के अनुभवों को उक्त विषय या उपादान के संदर्भ में 'आकार' (morphe) कहा गया है, जो वस्तुतः अनुभव-प्रवाह की एकत्वमूलता व्यक्त करता है। प्रथम प्रकार के अनुभवों में न केवल प्रत्यक्षादि सामान्य-रूप अनुभव आते हैं वरन् वर्ण, स्पर्श, स्वर आदि तन्मात्राएँ भी आ जाती हैं जो इंदिय-प्रदत्त (सेंस-डेटा) हैं। द्रष्टव्य है कि इंद्रियानुभवों में प्रकट ये तन्मात्राएँ वस्तुओं के 'गुण' नहीं हैं, वरन् वस्तुओं के गुण ही इनके माध्यम से निर्दशित होते हैं। इसी तरह सुख-दुःखादि मात्रास्पर्शों (अनुभूतियों) और संवेगों के बारे में भी समझना चाहिए। ये सभी अनुभव 'विषय' रूप में उस अधिक व्यापक अनुभव में समाहित होते हैं जो अपनी समग्रता में अभिप्रायात्मक होता है और इसलिए उक्त प्रथम प्रकार के अनुभवों को 'अर्थ' प्रदान करता है। द्वितीय प्रकार के अनुभवों के उक्त अभिप्रायात्मक क्रिया रूप होने के कारण 'अर्थायत्तक-क्रिया' कहा जाता है। उनके इस तरह से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लक्षण युक्त होने से ही स्पष्ट है कि वे स्वतः 'विषय' या 'उपादान' नहीं होते। किंतु अपने निज-रूप में, जो केवल विवरणात्मक है प्रतिभासात्मक नहीं, विषय-शून्य होकर भी अपने-आप में आकारवान् होते हैं, और इसीलिए विषय-रूप अनुभवों को व्यवस्थित करते या उनका अर्थायोजन कर पाते हैं। अपनी अर्थयुतता में अभिप्रायात्मक अनुभव 'एकात्ममूल' होते हैं, वही अपनी सक्रियता में सतत 'एकत्वमूल' चेतना अर्थात् कालिक चेतना, बन कर प्रकट होते हैं। पुनः, इसी अर्थयुतता से चेतना का तात्विक रूप 'प्रति-चेतना' का बनता है जिसके लिए हुस्सर्ल एक नई अभिव्यक्ति 'नोयसिस' (noesis) या 'अर्थ-क्रिया' का उपयोग करता है। 'अर्थ-क्रिया' से तात्पर्य 'चेतना-की-क्रिया' न होकर 'क्रियारूप चेतना' है, अर्थात् अर्थाभिप्राय के लक्षण वाली चेतना। दूसरी ओर, इस अर्थाभिप्राय के संदर्भ में, प्रति-चेतना से अनिवार्यतः विशिष्ट 'विषय' या 'उपादान' को वह 'नोयमा' (noema) या 'वस्त्वर्थ' कहता है। यहाँ भी 'वस्त्वर्थ' का तात्पर्य 'चेतना-की-वस्तु' न होकर 'वस्तु-रूप चेतना' है। दूसरे शब्दों में, एक ही चेतना के दो पक्ष 'क्रिया रूप' व 'वस्तु रूप' वाले हैं। यहाँ 'वस्तु' वहिर्वस्तु या अभिप्राय-निर्दशित वस्तु न होकर चेतना की अंतर्वस्तु या विषय-रूप अनुभव है, और तत्वतः 'प्रति-चेतना' वाह्य-वस्तुओं के 'प्रति' न होकर इन 'विषयों' के ही 'प्रति' है।

अतः स्पष्ट है कि हुस्सर्ल की अभिव्यक्ति में उक्त 'अर्थ-क्रिया' (नोयसिस) और 'वस्त्वर्थ' (नोयमा) पारिभाषिक शब्द हैं। उनमें प्राचीन ग्रीक शब्द 'नोयुस' (nous), जो सामान्य बुद्धि व आत्म परन् अर्थ वाला है, का आशय समाविष्ट है। इस आशय में न केवल 'नियम' या व्यवस्था-मात्र की धारणा अंतर्भाव्य है वरन् 'अर्थ' मात्र का भी आधार वही है। अर्थ-क्रिया में इसीलिए अर्थवत्ता व अर्थायोजना (व्यवस्था) दोनों के ही लक्षण विद्यमान हैं। दूसरी ओर, उसी अर्थ-क्रिया (नोयसिस) में अनुभवों के उस मानसिक पक्ष का भी आशय विद्यमान है जिससे वह अनिवार्यतः उन अनुभवों से संयुक्त होता है जो विषय-रूप हैं—अर्थात् उसकी प्रति-चेतना का तात्विक रूप। अवश्य यहाँ 'मानसिक' और 'अभिप्रायात्मक' समानार्थक हैं—जैसाकि ब्रेन्टनो ने समझा था, किंतु तब यह स्पष्ट है कि 'मानसिक' के इस अर्थ में विषय-रूप अनुभवों को सम्मिलित नहीं किया जा सकता। अतः हुस्सर्ल ब्रेन्टनो का मत स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार, 'मानसिक' प्रतिभास-भाव की प्रवाहशीलता है जिसके दो आद्य विवरणात्मक पक्ष हैं : विषयरूप उपादानपरक (hyletic) और शुद्ध अर्थ-क्रिया-रूप आकारमूलक अभिप्रायपरक (noetic)।

चेतना की संरचना में उक्त दो संरचनात्मक पक्षों—अर्थ-क्रिया और वस्त्वर्थ—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की धारणा हुस्सर्ल के फिनामिनालॉजिकीय दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, क्योंकि इसमें हम प्रथम वार 'ग्रात्म' ग्रौर 'विषय' को उनकी पृथक्ता में भी परस्पर तत्त्वतः संवद्ध देखते हैं ग्रौर इसलिए वस्तु-ज्ञान व ग्रात्म-ज्ञान संबंधी पारंपरिक समस्याग्रों ग्रौर ग्रंतर्विरोधों को ग्रनायास सुलझता हुग्रा पाते हैं। ग्रव यह देखा जा सकता है कि वस्तु-ज्ञान व ग्रात्म-ज्ञान न केवल संभव हैं, वरन् उनका रूप ही इस तरह का है कि वे उस रूप में तत्त्वतः प्रकाश्य हैं—क्योंकि फिनामिनालॉजी की धारणा ही यह है कि जो वास्तविक मनस्क्रिया के रूप में ग्रभिप्रायात्मक होने से ग्रनिवार्यतः एकात्ममूलक है, ग्रर्थात् ग्रात्म-वोध लक्षण वाली है, वही क्रिया ग्रभि-प्राय-संदर्भ से ग्रनिवार्यतः 'वस्तु' रूप (वस्त्वर्थ) में संरचित है ग्रौर उसी रूप में वोध्य है। मनस्क्रिया ग्रर्थ-क्रिया के रूप में 'ग्रर्थ' प्रदायक है जवकि वही क्रिया वस्तुनिष्ठ ग्रर्थ की 'धारक' होने से वस्त्वर्थ है। किसी भी मनस्क्रिया पर चिंतन से हम उसकी ग्रात्मगत ग्रर्थ-विधाग्रों की पारस्परिकता वाली वस्तुगत ग्रर्थ-धारक-विधाग्रों को चेतना की समग्र संरचना में ग्रभिव्यक्त देख सकते हैं। साधारणतः यह समझा जाता है कि वस्तु में परिवर्त्तन से उसके संदर्भ में ग्रधिग्रहणात्मक ग्रर्थ-क्रिया परिवर्त्तित होती है। इसके विपरीत, हुस्सर्ल के मतानुसार, ज्ञानमीमांसागत ग्राद्य सैद्धांतिकता यह है कि ग्रधिग्रहणात्मक ग्रर्थ-क्रिया में परिवर्त्तन से वस्तु-स्वरूप परिवर्त्तित होता है। ग्रतः एक समग्र क्रिया के पूर्ण ग्रवगमन का ग्रर्थ ही उसके संबंध में वस्तु का पूर्ण ग्रवगमन है क्योंकि उस क्रिया की वस्तु कुछ ग्रौर हो ही नहीं सकती। तदनुसार दर्शन का उद्देश्य मनस्क्रियाग्रों का इस तरह से पूर्ण ग्रवगमन है कि तत्संबंधित वस्तुग्रों का पूर्ण ग्रवगमन हो सके। जैसे, विविध वस्तुग्रों के विविध भेदमूलक ग्रवगमन—उदाहरणार्थ पत्थर ग्रौर पेड़ के भेद की समझ, वस्तुतः सभी वस्तुग्रों, घटनाग्रों, तार्किक ग्रर्थाभ्युपगमों, सामाजिक संरचनाग्रों, ग्रमूर्त प्रत्ययों ग्रादि के भेद की समझ—का ग्राधार उक्त पूर्ण ग्रवगमन ही है। इसी ग्राधार से 'तात्त्विक' ज्ञान यह ज्ञान वन पाता है कि कैसे एक वस्तु ग्रन्य दूसरी वस्तु से तत्त्वतः पृथक् है। चाहे 'वस्तुएँ' सचमुच ग्रस्तित्ववान् हों या न हों उक्त भेद प्रामाणिक रहते हैं क्योंकि वे स्वयं-प्रकाश्य प्रतिभास रूप चेतना का ही संरचना के ग्रंग हैं। चाहे पत्थर ग्रौर पेड़ न हों, न रहें, उनका भेद तो रहेगा ही, क्योंकि वस्त्वर्थ रूप 'पत्थर' ग्रौर 'पेड़' का होना ग्रनुभवातिक्रामी पत्थर व पेड़ के होने पर निर्भर नहीं करता।

ग्रव यद्यपि स्वतः उक्त विवेचना की पारदर्शिता के लिए ग्रनुभवातिक्रामी (वाह्य) वस्तु ग्रनावश्यक है, 'ग्रनुभवातिक्रामी दिशादर्शक' के रूप में उनकी ग्रावश्यकता पड़ती ही है, क्योंकि क्रियाग्रों (मनस्क्रियाग्रों) की विवेचना में वे ही ग्रारंभ-विंदु का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कार्य करते हैं। अवश्य 'क्रिया' ही वस्तु की प्रामाणिकता या वस्तुनिष्ठता का आधार है, किंतु यह वस्तु ही है जो प्रमाण प्रस्तुत करने वाली क्रिया को चिंतन से विशिष्ट करती है। क्रिया पर बिना चिंतन के कोई 'ज्ञान' संभव नहीं, क्योंकि चूंकि अपने-आप में इन क्रियाओं का रूप केवल प्रति-चेतना का होता है, उन पर चिंतन आवश्यक है जिससे कि वस्तुनिष्ठता का रूप प्रकट हो सके। स्मरणीय है कि 'अर्थ-क्रिया' से ही प्रति-चेतना पर वह चिंतन-विश्लेषण हो पाता है जिससे कि 'विषय' उसके अनिवार्य संदर्भ के रूप में प्रकूट होता है और इस तरह वस्तुनिष्ठता का तात्त्विक आशय स्पष्ट हो जाता है। यहाँ द्रष्टव्य है कि फिनामिनालॉजिकीय दर्शन मनस्क्रिया के चिंतन द्वारा बाह्य वस्तु की रचना की बात नहीं करता—जैसाकि बर्कले ने अपने एकांत आत्मवाद में किया, वरन् उसे केवल इस तरह स्पष्ट करता है कि वह वस्तु-निष्ठ रूप में प्रतिष्ठित हो सके। पुनः, स्वतः वस्तु ही वस्तुनिष्ठ बन कर प्रतिष्ठित होती है, यथार्थ वस्तु से अलग उसका आभास-मात्र नहीं, जैसाकि कांट ने अपनी **शुद्ध बुद्धि की मीमांसा** (Critique of Pure Reason) में किया। चेतना की संरचना को 'नोयसिस-नोयमा' (अर्थक्रिया-वस्त्वर्थ) की विधा से समझने का हुस्सर्ल का उद्देश्य वस्तु की वस्तुनिष्ठता को उक्त ढंग से स्थापित करने का ही है जिससे बर्कले और कांट की समस्याओं से बचा जा सके। उसके अनुसार, जब वास्तविकता के संश्लेष और अभिप्रायात्मकता की विधाओं के बीच उचित पारस्परिकता होती है केवल तभी वस्तुनिष्ठता प्रामाणिक होती है—जिसका अर्थ है कि उस संदर्भ में मनस्क्रिया की वस्तु उसके व्यतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती जोकि वह है। और यह न केवल प्रत्यक्ष-क्रिया के बारे में सच है वरन् प्रत्येक सामान्य चेतना-क्रिया—स्मृति, अपेक्षा, कल्पना आदि—के बारे में भी यही सच है। कि कोई वस्तु प्रत्यक्ष, स्मृत, अपेक्षित या कल्पित हुई या नहीं हुई इस पर निर्भर करता है कि तत्संदर्भ में अभिप्राय निश्चित है या नहीं; वह इस पर निर्भर नहीं करता कि संबंधित वस्तु अस्तित्ववान् है या नहीं। पुनः, यह भी देखना चाहिए कि एक कल्पित वस्तु दूसरी कल्पित वस्तु से तत्त्वतः भिन्न है, जबकि कोई कल्पित वस्तु तत्त्वतः ठीक वही हो सकती है जो एक प्रत्यक्षीकृत वस्तु है। अतः यह महत्त्वपूर्ण है कि न केवल तत्त्वतः भिन्न क्रिया-रूपों को समझा जाय वरन् उन वस्तुओं को भी जो तत्त्वतः भिन्न हैं। वस्तुतः दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। वैसे, हुस्सर्ल के अनुसार, वस्तुनिष्ठता का अध्ययन मूलतः स्वतः वस्त्वर्थों की तात्विक भिन्नता को ही समझने पर आधारित है। इस पर हम अगले अध्याय में अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

■■■

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

६

बौद्धिक-विधान और प्रामाणिकता

देकार्त का यह कथन समस्त बुद्धिवादी विचारधारा का मूलमंत्र है : "जिस तरह सूर्य एकमेव सर्वप्रकाशक और ऊष्म सूर्य है, उसी तरह बुद्धि भी एकमेव है।" अर्थात् स्वतः अपने-आप से जो कुछ भी ज्ञात है वह सभी बुद्धि या बौद्धिक चेतना के फलस्वरूप है। हुस्सर्ल के शब्दों में : "जो-कुछ वस्तुतः है", अर्थात् भाव मात्र, वह "जो-कुछ बौद्धिक रूप में प्रमाणित है" से अनिवार्यतः संवद्ध है। पुनः, बुद्धि स्वयमेव अपना लक्ष्य है और ऐसा कुछ-भी नहीं जो अधिकार में उसके समकक्ष या उससे उच्च हो।

सभी बुद्धिवादी यह मान कर चलते हैं कि जिसे बुद्धि ठीक-ठीक देखती है केवल वही अनिवार्य है। अतः आवश्यक है कि बुद्धि किसी अ-बौद्धिक तत्त्व से बाधित न हो, जिससे कि वह ठीक-ठीक देख सके। तव इस तरह की बाधा को हटाने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि उसे बुद्धि के पास फटकने ही न दिया जाय, उसकी संभावना का ही निराकरण कर दिया जाय। हुस्सर्ल 'अलिप्तता' व 'अपचयन' की विधियों द्वारा यही करता है। साथ ही इससे संलग्न यह शर्त भी रखी जाती है कि सभी-कुछ बौद्धिक निर्णय के अधीन कर दिया जाय—इसे हुस्सर्ल वस्तु मात्र के 'बौद्धिक विधान' की क्रिया द्वारा पूरा करता है। जो-कुछ भी चेतना का विषय है, अर्थात् जहाँ तक वह इस तरह की एक वस्तु है, उसका स्रोत स्वतः चेतना में ही है। उसका वस्तु-रूप विधान उस रचना-विधा द्वारा होता है जो अनिवार्य है, और इसीलिए स्वतः बुद्धि से विधान-सम्मत वस्तु भी अनिवार्य है।

अवश्य प्रकृति-विज्ञान, वस्तुतः सभी पूर्वाग्रहवादी ज्ञान-विज्ञान, भी बुद्धि पर ही आश्रित होते हैं, किंतु वे बुद्धि की उक्त आद्यता व विधान-क्रिया को ठीक-ठीक समझ पाने में असमर्थ होते हैं। बुद्धि का सर्वोच्च अधिकार व उसकी आद्य प्राथमिकता की मान्यता में ही प्रकृति विज्ञानों की सफलता का रहस्य निहित है, किंतु वहाँ उसकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रामाणिकता का रूप भ्रामक और ग़लत है। चूंकि वहाँ आरंभ तथ्य-रूप विषयों से होता है उन्हें ही न केवल आद्य प्राथमिकता मिल जाती है वरन् समस्त प्रत्ययात्मक प्रामाणिकता का निकष भी वही बन बैठते हैं। निस्संदेह यहाँ दोष स्वयं तथ्यों का नहीं है वरन् उस वैज्ञानिक विधि का है जो अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त न हो पाने के कारण पर्याप्त अंतर्दृष्टि विकसित नहीं कर पाती। वह इन्हीं तथ्यों की अव्यवहित प्रस्तुति का रूप जानने और उनके परस्पर संबंधों की व्यवहित (अनुमानित) जानकारी प्राप्त करने में ही अपने उद्देश्य की परिपूर्ति समझ लेती है। अतः स्पष्ट है कि उक्त विधि के अंतर्गत ज्ञानमीमांसा में उठने वाली सैद्धांतिक समस्याओं के प्रति कोई रुचि नहीं होती, न ही हो सकती है। दूसरी ओर, पूर्वाग्रहमुक्त दार्शनिक विधि मूलतः इन्हीं समस्याओं के समाधान में रुचि रखती है। निस्संदेह, अन्य ज्ञान-विज्ञानों की तरह दार्शनिक-चिंतन भी "प्रदत्त का अपना मूलाधिकार" के प्राविधिक सिद्धांत को मान्य करता है, किंतु वह तथ्यों को आद्य प्रदत्त रूप नहीं मानता।

अतएव स्पष्ट है कि क्यों फिनामिनालॉजिकीय दार्शनिक चिंतन, जो समस्त प्राकृतिक या पूर्वाग्रहवादी दृष्टिकोण का स्थगन कर उससे अपचय-अवशिष्ट शुद्ध चेतना के क्षेत्र में अपनी गवेषणा चलाता है बुद्धि को उसके शुद्ध सक्रिय विधानात्मक रूप में ठीक-ठीक देख-समझ सकने में समर्थ होने का दावा करता है। प्रस्तुत अध्याय में हमारा उद्देश्य इसी बुद्धि की अवधारणा को स्पष्ट करना है।

(क) बुद्धि और अनुभव

चूंकि विज्ञान की सारी समस्याओं की जड़ में ज्ञान की अनिवार्यता का प्रश्न है, और चूंकि अनिवार्यता का एकमात्र उपलब्ध स्रोत बुद्धि है, स्वाभाविक ही है कि इस अनिवार्यता की खोज में निकले हुस्सर्ल के फिनामिनालॉजिकीय दर्शन का चरम विकास शुद्ध बुद्धि की मीमांसा में हो। वह शुद्ध बुद्धि को तात्त्विक भाव से संबंधित करता है। यह तात्त्विक भाव अभिप्रायात्मक अंतर्बोध (अंतर्ज्ञान) में प्रकट होता है। उक्त शुद्ध बुद्धि इस अभिप्रायात्मक अंतर्बोध का ही वह क्रियात्मक पक्ष है जो तात्त्विक भाव के विधान के रूप में उजागर है। बुद्धि से विधान-सम्मत रूप में तात्त्विक भाव एक आद्य सामान्य अवधारणा है जो स्वतःप्रमाण है, क्योंकि उसका विधान किसी और तरह से संभव नहीं है। तात्त्विक भाव के इस आशय को प्रकट करने वाली शुद्ध बुद्धि-मीमांसा के लिए किसी ऐसे बाह्य मापदंड की आवश्यकता नहीं जिससे उसकी विषय-वस्तु का मूल्यांकन हो। अपना मापदंड वह स्वयं है और इस तरह स्वयंसिद्ध अनिवार्यता लक्षण वाला है। इसी स्वयंसिद्ध अनिवार्यता के आधार पर हुस्सर्ल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुभव का बौद्धिकीकरण करता है।

द्रष्टव्य है कि कांट ने बुद्धि से अनुभव को पृथक् कर प्रथम को द्वितीय का नियामक बनाया। दूसरी ओर, हुस्सर्ल ने अनुभव में ही बुद्धि का आभ्यंतरण कर उसे विधानात्मक भी बना दिया। कांट ने प्रतिपादित किया था कि अनुभव से परे बुद्धि ही उस (अनुभव) का आद्य नियामक है। हुस्सर्ल ने एक कदम आगे बढ़ कर कहा कि बुद्धि न केवल आद्य नियामक है वरन् आद्यतः विधानात्मक (रचनात्मक) भी है—अनुभव न केवल उससे निश्चित आकार ग्रहण करता है वरन् वस्तुनिष्ठ विषय रूप में उसके द्वारा संरचित भी होता है। और यह इसलिए संभव हो पाता है, क्योंकि अभिप्रायमूलक बुद्धि या बौद्धिक चेतना अनुभव की ही आंतरिक क्रिया है; अनुभव से पृथक् कोई 'मानसिक विभाग' (फेकल्टी) नहीं, जैसाकि कांट ने समझा था। अर्थ-क्रिया के रूप में बुद्धि अर्थ-विधायक चेतना-क्रिया है जबकि वस्त्वर्थ के रूप में वही अर्थाभिपूरक चेतना-क्रिया है—और चूंकि यह बुद्धि की शुद्ध क्रियात्मकता का अनिवार्य रूप है, उसके संदर्भ में निष्पन्न हुआ वस्तु-ज्ञान भी प्रामाणिक है। केवल इतना ही नहीं, हुस्सर्ल के अनुसार, वस्तु-ज्ञान की प्रामाणिकता का कोई अन्य आधार हो ही नहीं सकता, क्योंकि वस्तुनिष्ठता का किसी और तरह से रचित हो सकना संभव नहीं जान पड़ता। इस तरह हुस्सर्ल बौद्धिक क्रिया की अपनी धारणा में देकार्त के सार्वभौम विज्ञान (mathesis universalis) के आदर्श को कांट के परात्मक प्रत्ययवाद के साथ-साथ चरितार्थ हुआ देखना चाहता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हुस्सर्ल की शुद्ध बुद्धि-मीमांसा में बुद्धिवाद की पराकाष्ठा प्रस्तुत है। किंतु तब, चूंकि अनुभव उस बुद्धि से अनिवार्यतः संश्लिष्ट है, क्या उसे शुद्ध बुद्धिवाद कहा जा सकता है?

निस्संदेह, पहले भी दार्शनिकों ने 'बुद्धि' और 'अनुभव' के बीच की अलंघ्य खाई पर किसी न किसी प्रकार के सेतुबंध का प्रयास किया था। किंतु या तो वह प्रयास ही पूर्णतः सफल नहीं रहा या फिर सेतु की मज़बूती के प्रति अनेक प्रकार की आशंकाएं बनी रहीं। जहाँ बुद्धि और अनुभव को आद्यतः पृथक् माना गया (जैसे कांट के चिंतन में) वहाँ उनके परस्पर संबंध की समस्यात्मकता का अंतिम निराकरण नहीं हो पाया; और जहाँ उन्हें तादात्म्य रूप से संबंधित मान लिया गया (जैसे हीगेल, स्पिनोज़ा आदि के चिंतन में) वहाँ उसकी महत्ता को महज़ कल्पना की एक ऊँची छलांग से अधिक नहीं समझा गया। अतः इस ऐतिहासिक संदर्भ में उन्हें जोड़ने का हुस्सर्ल का अनोखा प्रयास, जिसके अंतर्गत उनके बीच स्वरूपगत संबंध होने के बावजूद उनकी स्वभावगत भिन्नता बनी रहती है, दार्शनिक-चिंतन के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इतिहास में एक उल्लेखनीय घटना है—फिर चाहे उसे शुद्ध बुद्धिवाद के रूप में नहीं समझा जा सके। स्मरणीय है कि हीगेल ने 'बुद्धि' और 'अनुभव' के वैपरीत्य को पाटने के लिए जिस द्वंद्वात्मक नियम की धारणा की थी उस पर मानव-बुद्धि का कोई अधिकार नहीं रह पाता। इस दृष्टि से वह बुद्धि व अनुभव दोनों से ही परे है। स्पिनोज़ा द्वारा प्रतिपादित बुद्धि और अनुभव की द्रव्यमूल एकता में भी यही बात प्रकारांतर से लागू होती है। हुस्सर्ल के फिनामिनालॉजिकीय दर्शन में इस कल्पनामूलक धारणा के लिए कोई जगह न होना स्वाभाविक है। वह स्वयं बुद्धि और अनुभव के परस्पर संबंध को दोनों में ही समानतः अंतःस्थ मानता है। और चूंकि इस तरह से प्रकट संबंध स्वतः आद्य-रूपेण प्रकट है वह उसे तात्विक नियम के रूप वाला कहता है। तात्पर्य यह कि स्वभावतः पृथक् होने पर भी बुद्धि और अनुभव के बीच एक अनिवार्य स्वरूपगत एकता है जो अनुलंघनीय है। अपनी इस धारणा के अनुकूल हुस्सर्ल 'अनुभव' और 'बुद्धि' की पारंपरिक धारणाओं में कुछ मूल परिवर्त्तन करता है। वह इस परंपराप्राप्त मत को मान्य करता है कि अनुभव का यथार्थ (वास्तविक वस्तुओं) से अव्यवहित संबंध है, किंतु इससे संलग्न इस पारंपरिक मान्यता को कि अनुभव 'आकस्मिकता' के लक्षण वाला है वह अस्वीकार करता है। उसके अनुसार, अनुभव में बाह्य प्रक्षेप का गुण होने से ही वह आकस्मिक समझा जाता है, जबकि प्रतिभास रूप अनुभव-क्रिया में उस गुण का होना उसका अनिवार्य लक्षण नहीं है। दूसरी ओर, बुद्धि के संबंध में भी वह इस परंपरागत मत को मान्य करता है। वही ज्ञान-संदर्भ में अनिवार्यता का स्रोत है, किंतु इसी से संलग्न इस पारंपरिक मान्यता को वह अस्वीकार करता है कि बौद्धिक क्रियाशीलता व्यवहित या परोक्ष है। वह कहता है कि बुद्धि द्वारा वस्तुओं के अव्यवहित अभिप्रायात्मक अधिग्रहण से ही वस्तु-ज्ञान संभव हो पाता है। संक्षेप में, हुस्सर्ल 'बौद्धिक-अनुभव' को मान्य करता है: तदनुसार अनुभव ही अनिवार्य है और बुद्धि ही अपरोक्षतः क्रियाशील। बुद्धि की अपरोक्ष क्रियाशीलता ही उसके विधान का रूप है, जबकि अनुभव की अनिवार्यता ही उक्त विधान की स्वयंसिद्धता है।

इस तरह स्पष्ट है कि हुस्सर्ल के मत में 'बुद्धि' और 'अनुभव' दो ऐकांतिक या जड़ धारणाएँ नहीं हैं। वे एक ही एकात्ममूलक चेतना-प्रवाह की कालिक संरचना में परस्पर सहयुक्त हैं। चेतना-प्रवाह (अनुभव-प्रवाह) की उक्त कालिक संरचना अनुभवातीत है और वह स्वतः अभिप्रायात्मक बौद्धिक-क्रिया द्वारा रचित है। इसी रचित संरचना के प्रकाश में आद्य मानव-मानसिकता का स्वरूप स्पष्ट होकर हमारे समक्ष आता है। अनुभवों में स्वतः एक आयोजना होती है और मनस् (मानव-मानसिकता)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुभवों के साथ-साथ विकसित होता है। दूसरी ओर, मनस् के विकास, जिसका अनिवार्य लक्षण बौद्धिक क्षमता का विकास है, के साथ अनुभवों में भी वृद्धि होती जाती है। आनुभविक विकास से इस प्रकार पारस्परिकता वाले मानसिक विकास को हुस्सर्ल "मानसिक संरचना" कहता है। यह चेतना में वस्तु की अभिप्रायात्मक संरचना, अर्थात् वस्तुनिष्ठता की रचना, से बिल्कुल भिन्न है। निस्संदेह जहाँ भी वस्तुनिष्ठतः प्रामाणिक अनुभव (संज्ञान) होता है, ज्ञात वस्तु बौद्धिक चेतना में संरचित होती है; और इस संज्ञान रूप अनुभव की सही प्रामाणिकता वस्तुनिष्ठात्मक संरचना के मानसिक स्रोत के चिंतन में निष्पन्न होती है। इस तरह वह चेतना जिसे ज्ञान है, उस चेतना से भिन्न है जिसे ज्ञान नहीं है। ज्ञान की स्थिति में चेतना की बौद्धिक क्षमता में वृद्धि होती है; वस्तुनिष्ठता की विकासमान संरचना के साथ आत्मनिष्ठता की संरचना में भी विकास होता है। अतः ज्ञान में विकास का अर्थ केवल वस्तुनिष्ठतः प्रामाणिक अनुभवों में वृद्धि होना नहीं है; उसका यह भी अर्थ है कि अपनी बौद्धिकता—स्वतः ज्ञान और उसकी प्रामाणिकता के क्षेत्र—में भी मनस् क्रमशः अधिकाधिक सक्षम होता जाता है।

(ख) बौद्धिक विधान और उसकी अनिवार्यता

हुस्सर्ल की 'विधान' की धारणा अपनी सूक्ष्मता व जटिलता के कारण सदैव स्पष्टतः विवेचित नहीं है। इसका सर्वाधिक स्पष्ट रूप हमें हुस्सर्ल की बाद की रचनाओं में मिलता है, जहाँ उसने "विधान करना" को 'स्पष्ट करना' कहा है। 'स्पष्टीकरण' की इस धारणा को ही आगे चलकर वह 'प्रमाणीकरण' और 'संपुष्टीकरण' के रूप में समझता है। तदनुसार, "विधान" का यह अर्थ लगाया जा सकता है: फिनामिनालॉजिकीय विधि द्वारा किसी भी साधारण अनुभव को केवल चेतना का शुद्ध विषय बनाना, जिससे कि चेतना का साधारण अनुभव पूर्णतः पारदर्शी होकर स्वतःप्रामाण्य रूप में हमारे समक्ष आ सके। इस तरह से जो 'विधान' (विधान-सम्मत) है वही फिनामिनालॉजिकीय या तात्त्विक 'भाव' है। दूसरे शब्दों में, भाव का 'तत्त्व' बुद्धि द्वारा संरचित होने से ही संभव है।

हुस्सर्ल की यह मान्यता कि कोई भी तत्त्व बुद्धि के बिना संभव नहीं, वस्तुतः 'तत्त्व' की यह परिभाषा देता है—तत्त्व का उद्भव बुद्धि के प्रागनुभविक (आद्य अभिप्रायमूलकता) में है। अर्थात् 'तत्त्व' और 'अर्थ' एक ही चीज़ हैं। स्पष्ट है कि यहाँ 'अर्थ' अमूर्त प्रत्यय (एब्सट्रेक्शन) न होकर अभिप्राय या 'आशय' रूप है। अभिप्राय के रूप में आशय बुद्धि का उसका अपना ही चारित्रिक लक्षण है, और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसलिए अनिवार्य है। केवल अभिप्राय के आधार से चेतना द्वारा वस्तु का ग्रहण उसका 'अर्थ' है, जो साथ ही बौद्धिक अनिवार्यता से युक्त होने के कारण अपने अविग्रहण में एक 'तत्त्व' भी है। यहाँ द्रष्टव्य है कि किस तरह हुस्सर्ल की प्रारंभिक 'ज्ञान-मीमांसा' की तार्किक परिणति 'तत्त्व-मीमांसा' में हो जाती है। भाव का वैज्ञानिक ज्ञान उसका तत्त्व-ज्ञान है; और उसके तत्त्व-ज्ञान में उस अभिप्राय की उपस्थिति है जो चेतना में अपने-आप को पूर्ण अनिवार्यता सहित प्रकट करता है। अभिप्राय की पूर्ण अनिवार्यता, जो तत्त्व की पूर्ण अनिवार्यता का आधार है, बौद्धिक चेतना में संरचित है। 'परात्मक आत्मनिष्ठता' (आत्मनिष्ठमूलक चेतना) की हुस्सर्ल के दर्शन में महत्ता का रहस्य यही है: अनिवार्यता के लक्षण वाला तत्त्व अभिप्रायात्मक बुद्धि के विधान के 'नियमों' में अंतर्भाव्य होता है। जो कुछ इन नियमों के आधार पर संरचित है वह स्वभावत: अनिवार्य है।

अवश्य यह ठीक-ठीक कह पाना कठिन है कि स्वत: उक्त 'अनिवार्यता' का तत्त्व क्या है। हुस्सर्ल इस संबंध में कोई निश्चित उत्तर नहीं देता, जबकि, उसके ही अनुसार, अनिवार्यता का होना इस पर निर्भर करता है कि अनिवार्यता क्या है। स्मरणीय है कि हुस्सर्ल के दर्शन में सभी कुछ बुद्धि के अनिवार्य विधान पर निर्भर करता है। तब क्या 'अनिवार्यता क्या है?' यह प्रश्न अनिवार्यत: समस्यात्मक है? क्या हुस्सर्ल जिसे 'बुद्धि' कहता है उसके मूल में कोई 'अ-बुद्धि' है? क्या अनुभव के बौद्धिकीकरण के प्रयास में उसने बुद्धि का अबौद्धिकीकरण कर डाला है? ये मूल प्रश्न हुस्सर्ल के दर्शन में अनुत्तरित रह जाते हैं। अत: यह तथ्य महत्त्वपूर्ण हो उठता है कि उसके किसी भी समर्थक अनुयायी ने 'पूर्ण बुद्धिवाद' में उसका साथ नहीं दिया। हाइडेगर ने तो यहाँ तक कह दिया कि हुस्सर्ल की विधानपरक या संरचनात्मक फिनामिनालॉजी 'भाव' (बींग) से संबंधित न होकर केवल 'वह-जो-है' (बींग्स) तक ही सीमित रह जाता है; सत्यों की खोज में आगे बढ़ कर वह स्वत: सत्य (सत्यता= भाव) से भटक जाता है।

(ग) बौद्धिक विधान की प्रक्रिया

अब, यद्यपि हुस्सर्ल स्वत: 'अनिवार्यता' के संबंध में उठने वाले उक्त मूल प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता उसे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि सारे बौद्धिक विधान का लक्ष्य उसी अनिवार्यता के लक्षण वाला 'तात्त्विक भाव' है। इस 'तात्त्विक भाव' की उपलब्धि के लिए बौद्धिक विधान क्रमश: तीन स्थितियों से होकर गुज़रता है: (१) सभी भावों को चेतना-संदर्भ वाला बनाना, जिससे भावात्मक पूर्णता संभव हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाती है; (२) आनुभविक भाव को अपने-आप में प्रस्तुत भाव के रूप वाला, अर्थात् प्रतिभास रूप वाला, बनाना, जिससे वह पूर्णरूपेण ज्ञान का विषय बन सके, और (३) समग्र ज्ञान को एक सुनियोजित समग्रता में बदलना, क्योंकि भाव मात्र का पूर्ण विज्ञान तभी संभव है जब सभी अभिप्रायों का प्राविधिक अध्ययन व नियोजन हुआ हो।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि फिनामिनालॉजिकीय दर्शन का उद्देश्य किन्हीं नई वस्तुओं का अन्वेषण या उनकी प्रतिष्ठा नहीं है। उसका लक्ष्य चेतना के लिए प्रदत्त वस्तुओं को प्रामाणिकता प्रदान करना है। और इस तरह की सर्वोच्च प्रामाणिकता हुस्सर्ल के अनुसार यह विश्वास है कि जो प्रमाणीकृत है वह बुद्धि के द्वारा स्थापित है। यहाँ 'स्थापना' का अर्थ है 'विधान' : बुद्धि यथार्थ (रियल) की स्थापना अपने विधान द्वारा करती है। यह विधान चेतना के नियमों पर आधारित होने के कारण 'यथार्थ' को पूर्ण निश्चितता प्रदान करता है। द्रष्टव्य है कि यहाँ 'नियम' किसी 'कारणता' का सूचक नहीं है। उसका तात्पर्य है : चेतना-क्रिया की निरीक्षण-योग्य स्थिरता द्वारा उस क्रिया में एक प्रागनुभविक अनिवार्यता (अर्थ-क्रिया और वस्त्वर्थ की तात्विक परस्परता) के अंतर्बोध की संभावना। वैसे भी, चूँकि उक्त चेतना-क्रिया सदैव अभिप्रायात्मक होने से स्वतः अ-यथार्थता लक्षण वाली है, उसके संदर्भ में किसी कारणता के होने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

अब यह पूछना स्वाभाविक है कि उक्त चेतना के नियम क्या हैं? हुस्सर्ल इसका कोई सीधा उत्तर नहीं देता। उसके अनुसार, बस इतना जानना पर्याप्त है कि क्या चेतना-क्रिया में कोई ऐसी अनिवार्यता है जो मात्र मनोगत (अभ्यासजन्य, संस्कार-वशात्) नहीं है। और यह अनिवार्यता स्वतः चेतना की संरचना में अर्थ-क्रिया और वस्त्वर्थ की एकत्वमूलक परस्परता में उपलब्ध है। निस्संदेह अ-विषय रूप में यह अनिवार्यता तार्किक है; यद्यपि अभिप्रायात्मक बौद्धिक विधान का स्वरूप ही ऐसा है कि वह तार्किक अनिवार्यता को भावपरक अनिवार्यता में बदल देता है।

अभिप्रायमूलक बौद्धिक विधान के अंतर्गत निश्चितता व अनिवार्यता के क्रम में दूसरा चरण आनुभविक भाव को उसके अपने स्वरूप में, प्रतिभास-रूप से, प्रमाणीकृत करना है। देकार्त की तरह हुस्सर्ल भी समस्त संज्ञान को बुद्धि के स्तर पर प्रमाणीकृत करना चाहता है, जैसाकि उसने अपने अंतिम प्रमुख ग्रंथ कार्तेशियन मेडीटेशन्स में स्पष्ट किया है। इसके लिए वह चेतना के प्रदत्त पर सतत ध्यान या चिंतन (मेडीटेशन) पर ज़ोर देता है जिससे कि उस प्रदत्त का उसका अपना स्वरूप क्रमशः स्पष्ट हो सके। इस तरह चिंतन (आत्म-चिंतन) से स्पष्ट होकर ही प्रदत्त का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तात्विक रूप सामने आता है।

चेतना के लिए पूर्णरूपेण प्रदत्त ही प्रतिभास-विज्ञान (फिनामिनालॉजी) का आधार है; केवल वही आद्य अनिवार्यता का प्रामाणिक रूप है। यह पूर्णरूपेण प्रदत्त फिनामिनालॉजिकीय अपचय में अवशिष्ट संज्ञान का शुद्ध भाव-प्रतिभास या चेतना का शुद्ध जीवन है। इस शुद्ध संज्ञान-भाव में 'मैं हूँ' के साथ-साथ जगत् भी प्रदत्त रहता है, क्योंकि जगत् सदैव अहं के समक्ष पृथक् भावेन प्रस्तुत होता है। अवश्य इस जगत् से तत्वतः संबद्ध होकर भी अहम् परात्मक है। अर्थात् 'शुद्ध अहं' अपनी प्रदत्तता में पूर्णतः निश्चित है। दूसरी ओर, अपने परा-भाव में सदैव अहं-संदर्भ वाला जगत् भी उतना ही निश्चित है। तात्पर्य यह कि दोनों सदैव साथ-साथ अनिवार्यतः प्रकट या प्रदत्त हैं।

इस तरह आत्म-चिंतन के प्रथम सोपान में 'अहं' प्रथम पूर्ण निश्चितता के रूप वाला बन कर प्रकट होता है जैसाकि देकार्त ने स्पष्टतः देखा था। किंतु वह चेतना में संज्ञान के प्रामाण्य से ही प्रस्तुत होता है। अपने-आप में उसकी निश्चितता शून्य होती है—अर्थात् तद्-रूप में अनभिव्यक्त। पुनः, चूंकि यह अहं तत्वतः परात्मक है, उसके परात्मक अनुभव (संज्ञान-भाव) का समग्र क्षेत्र भी उतनी ही निश्चितता से प्रस्तुत होता है: स्वतः अनुभव-क्रिया (चेतना-क्रिया) में प्रक्षेप का तथ्य उतनी ही निश्चितता से प्रकट है जितनी कि उसकी केंद्रस्थता के रूप में स्वयं अहं। हुस्सर्ल के अनुसार, अनुभव में वह सब-कुछ समाहित रहता है जो उसके संबंध में ज्ञातव्य है, अर्थात् उसकी अनिर्वार्य आत्मनिष्ठता और उसकी अनिवार्य वस्तुनिष्ठता।

शुद्ध आत्म-चिंतन सदैव सही होता है। आत्म या अहं का चिंतन सदैव उसके अपने अनुभवों पर किया गया चिंतन है। अहं अपने अनुभवों से अलग 'कुछ' नहीं है। संभव है कि जगत्, जो साधारणतः उक्त अनुभवों से संबंधित माना जाता है, मात्र भ्रम हो; किंतु उस 'जगत्' संबंधी अनुभव स्वतः सदैव असंदिग्ध हैं। निस्संदेह, अपने अनिवार्य प्रक्षेपण के बावजूद अनुभव अपने-आप यह नहीं कहता कि वह जिससे उसका संबंध है, अस्तित्वशील या अनस्तित्वशील है; ऐसा केवल उस अनुभव पर किया गया एक चिंतन कहता है। अतः, इस दृष्टि से, एक ऐसे चिंतन का चुनाव संभव है जो जगत् को केवल अनुभव-प्रक्षेप के रूप में—अर्थात् न तो अस्तित्वशील और न ही अनस्तित्वशील रूप में, वरन् केवल प्रतिभास रूप में—प्रस्तुत करता है। यही बाद वाला चिंतन शुद्ध आत्म-चिंतन है। स्पष्ट है कि यह केवल रुचि-रुझान का सवाल है कि कोई प्रथम प्रकार के चिंतन को चुनता है जिसमें जगत् एक साधारण प्राकृतिक-मानसिक जगत् बन कर प्रकट होता है, या फिर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्वितीय प्रकार के चिंतन को चुनता है जिसमें उसके समग्र ध्यान का केंद्र केवल जगदानुभव होता है। किंतु तब हमें यह याद रखना होगा कि जहाँ प्रथम प्रकार के चिंतन में त्रुटियाँ, भ्रम व विकार संभव हैं वहाँ द्वितीय प्रकार के चिंतन में ऐसा हो सकना संभव नहीं। अतः स्वाभाविक है कि हुस्सर्ल इसी बाद वाले चिंतन का उपयोग तात्त्विक या अनिवार्य ज्ञान की अपनी गवेषणा में करता है।

अंत में, समग्र ज्ञान को एक सुनियोजित समग्रता में बदलने का उद्देश्य हुस्सर्ल को शुद्ध आत्मनिष्ठता या अहं के पूर्ण प्रतिभास-रूप तादात्म्य का विवेचन करने को प्रेरित करता है। अनिवार्यता को प्रतिष्ठित करने के क्रमाधीन इस अंतिम चरण में कांट की 'कोपरनिकीय क्रांति' की चरम स्थिति उजागर होती दिखाई देती है।

दार्शनिक के समक्ष असल सवाल जगत् की वस्तुनिष्ठता को सिद्ध करने का न होकर उसकी स्वयंसिद्धता को ठीक-ठीक समझने का है। वस्तुनिष्ठ जगत् में प्रत्येक अनुभव वस्तुनिष्ठता से संबंध रखता है, क्योंकि यह वस्तुनिष्ठता, हुस्सर्ल के अनुसार, चेतना की सभी विधाओं में स्थित स्थायी तादात्म्य ही है, यद्यपि इस स्थायी तादात्म्य का अनिवार्य संदर्भ निरंतर परिवर्तमान चेतना-प्रवाह है। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि निरंतर परिवर्तमान होकर भी चेतना किस तरह अपना स्थायी तादात्म्य बनाये रख सकती है? हुस्सर्ल का उत्तर है कि, यह तभी संभव है जब चेतना किसी प्रकार की यथार्थता या वास्तविकता न होकर शुद्धतः आदर्श रूप हो। जो निरंतर प्रवहमान (परिवर्तमान) है वही अपने अनिवार्य आदर्शमूल एकत्व से एक ठोस कालिक संश्लेष बन कर प्रकट होता है। दूसरी ओर, उक्त आदर्शरूपता स्वतः चेतना द्वारा क्रियान्वित संश्लेष का स्थायित्व है। वह क्रिया जिसमें कोई वस्तु तद्रूप में संरचित है उन विविध विधाओं का संश्लेष है जिसके अनुसार कोई भी वस्तु प्रदत्त बनती है, या बन सकती है। इस तरह वस्तुनिष्ठता की परिभाषा ही यह है कि वह तादात्म्य की चेतना द्वारा संरचित है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि विधानपरक तादात्म्य-चेतना एक ऐसा संश्लेष है जो वस्तुनिष्ठतामूलक तादात्म्य को उत्पन्न करती है। वस्तुतः इसे इस अधिक सामान्य आवश्यकता के संदर्भ में समझना चाहिये कि कोई भी संश्लेष समस्त संश्लेषों की आधारभूत कालिक अंतश्चेतना के अनुरूप हो : "इस सार्वभौम संश्लेष का मूल रूप, जो चेतना के सभी संश्लेषों को संभव बनाता है, काल की वह चेतना है जो सब कुछ में व्याप्त है" (कार्तेशियन मेडीटेशन्स, पृ० ८१)। काल को संरचित करने वाला संश्लेष पहला संश्लेष है, जिसके बिना कोई अन्य संश्लेष संभव नहीं। इसकी एक महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति यह है कि चेतना की अनिवार्य कालिकता से केवल कालिक वस्तुओं का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विधान संभव है। प्रतिभास होने का अर्थ ही कालिकता लक्षण होना है। अब इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यों, हुस्सर्ल के अनुसार, वस्तु केवल इस रूप में संरचित हो सकती है कि उनके पक्षों का क्रमिक वास्तविकीकरण (एक्स्चुअ्र-लाइज़ेशन) हो—जो सदैव समग्र अनुभव के क्षितिज के संदर्भ में घटित होता है।

(घ) स्वप्रदत्तता और स्वतःप्रामाण्य :

ऊपर चेतना के विधान और वस्तुनिष्ठता के संबंध में जो कहा गया उससे स्पष्ट है कि पूर्णतः विधानसम्मत प्रदत्त चेतना के लिए अनिवार्यतः स्वप्रदत्तता का लक्षण वाला होगा। यह तथ्य कि सचमुच ऐसी स्वप्रदत्तता होती है, प्राविधिक अंतर्ज्ञान (इनट्यूशन) द्वारा निश्चित होता है। हुस्सर्ल 'अंतर्ज्ञान' को 'तात्विक अंतर्ज्ञान' भी कहता है : यहाँ उसका अर्थ है—चेतना के समक्ष किसी तत्त्व की प्रस्तुति और इसलिए उसकी अनिवार्य और सार्वभौम प्रामाणिकता। इस तरह प्राविधिक अंतर्ज्ञान तत्त्वों या तात्विक संरचनाओं में अंतर्दृष्टि उपलब्ध कराने वाली विधि है। स्मरणीय है कि अंतर्ज्ञान न तो प्रतिरूपणात्मक है और न ही वह तत्त्वों की दुनियाँ में प्रवेश का कोई आकस्मिक, दैवी या रहस्यात्मक द्वार है। जैसाकि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, फिनामिनालॉजी के अंतर्गत वह फिनामिनालॉजिकीय विधि की व्यवस्थित प्रक्रिया का ही एक भाग है।

प्रदत्तों के संबंध में फिनामिनालॉजिकीय चिंतन अपनी शुरूआत अनुभववाद से ही करता है। किंतु वह सामान्य अनुभववाद की तरह 'इंद्रिय-प्रदत्त' को ही प्रदत्तता का लक्षण वाला नहीं मानता; क्योंकि, जैसे उदाहरणार्थ, चेतना के विषय रूप में अंक भी प्रदत्त हैं, यद्यपि वे इंद्रिय-प्रदत्त नहीं हैं। पुनः, सामान्य अनुभववाद का यह आधारभूत सिद्धांत कि "समस्त सही ज्ञान अनुभवाश्रित है" मात्र अनुभव के आधार पर प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अतः, उक्त कारणों से, हुस्सर्ल 'प्रदत्त' के लिए इंद्रियानुभव से अधिक प्रभावशाली मूल उत्स ढूंढता है। और यह मूल उत्स या आद्याधार वह चेतना के उस रूप में पाता है जिसे वह 'अंतर्ज्ञान' कहता है। और यही अंतर्ज्ञान 'प्रदत्त' को निश्चित करने वाला विधिमूलक सिद्धांत है : "प्रत्येक प्रकार का मूल अंतर्ज्ञान ज्ञान का सही स्रोत है; जो कुछ प्रथमतः 'अंतर्ज्ञान' द्वारा अपने-आप को प्रस्तुत करता है, जैसे वह अपनी सही यथार्थता में प्रस्तुत हो, उसे उसी रूप में और उन्हीं सीमाओं के भीतर स्वीकार करना चाहिये जिसमें वह अपने-आप को प्रस्तुत करता है" (आइडियाज़, अनुभाग २४)। इस तरह से उपलब्ध प्रदत्त ही 'स्व-प्रदत्त' है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साधारणतः केवल अभ्यासवश हम कहते हैं २+१=१+२। किंतु इस निर्णय को अंतर्ज्ञान द्वारा भी निष्पन्न किया जा सकता है। तब, इस तरह उक्त निर्णय में अंतर्दृष्टि प्रदान करने वाले अंतर्ज्ञान द्वारा जो वस्तुनिष्ठ संश्लेष सामने आता है वह उक्त निर्णय-संश्लेष से परस्परता लिये होता है। इस वस्तुनिष्ठ संश्लेष को हम आद्यतः प्रस्तुत या स्व-प्रदत्त कहते हैं, जिसके अधिग्रहण का आद्य रूप बौद्धिक विधान की समझ की अपेक्षा रखता है। अवश्य अपनी स्व-प्रदत्तता में वह शुद्ध वस्त्वर्थ' होता है, जो उक्त अंतर्ज्ञान की आनुभविक या ठोस परिपूर्ति के पश्चात् नहीं बना रहता—क्योंकि तब उसमें आनुभविक आकस्मिकता, अपूर्णता व अस्पष्टता के अंश समाविष्ट हो जाते हैं।

उक्त अंतर्ज्ञान में व्यक्त अंतर्दृष्टि की विशिष्ट स्थिति को ही हुस्सर्ल साधारणतः 'स्वतःप्रामाण्य' कहता है। विशिष्टता की यह स्थिति अर्थ-क्रिया और वस्त्वर्थ के बीच की एकत्वमूलक संरचना है जो अंतर्ज्ञान के संदर्भ में उसे केंद्र कर बौद्धिक विधान और उसे अनिवार्यतः प्रेरित करने वाली चेतना-क्रिया की एकता है। यहाँ 'प्रेरणा' को विधान करने वाली क्रिया और विधान-सम्मत अर्थ (वस्तुनिष्ठ संश्लेष) के बीच का वह संबंध समझा जा सकता है जो अभिप्रायात्मक अर्थ-क्रिया से संभव होता है। स्वतः 'विधान-सम्मत अर्थ' का 'स्वतःप्रामाण्य' वस्त्वर्थ रूप में उसकी अव्यवहित अवगम्यता है। दूसरी ओर, अर्थ-क्रिया का स्वतःप्रामाण्य उसके आद्य निर्णय के रूप में अव्यवहित क्रिया होने से है। पुनः, यह भी स्पष्ट है कि स्वतःप्रामाण्य के ये दोनों पक्ष अर्थ-क्रिया व वस्त्वर्थ की संरचनात्मक एकता के स्वतःप्रामाण्य में ही अंतर्भुक्त हैं।

स्वतःप्रामाण्य या आद्य-प्रमाणकारक अंतर्दृष्टि के संबंध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण भेद की ओर भी हुस्सर्ल हमारा ध्यान आकृष्ट करता है : पर्याप्त (एडिक्वेट) और अपर्याप्त (इनेडिक्वेट) का भेद। वस्तु के ठोस अनुभव या आभास (अपीयरेंस) पर आधारित विधानमूलक चेतना-क्रिया अवश्य बौद्धिक है और इसलिए एक अर्थ-क्रिया है; किंतु वह आभास एकपक्षीय होने से 'अपूर्ण' है : हम न केवल वस्त्वाभास के प्रति चेतन हैं वरन् उस वस्तु के प्रति भी चेतन हैं जो आभासित हो रही है और जो अभी अपनी समग्रता में अर्थ की पूर्णता बन कर स्थापित नहीं हो पायी है। निस्संदेह स्वतः वस्तु उससे अलग नहीं जो आभासित हो रहा है; किंतु तब यह द्रष्टव्य है कि 'वस्तु' एक समग्रता है जिसके अंतर्गत उक्त 'आभास' केवल एक अर्थांश के रूप में उद्भासित होने से किन्हीं अंशों में अर्थ की अनिवार्य शून्यता वाला है और इसलिए अनिश्चित है। वस्तुतः यह बिल्कुल संभव है कि जो अर्थांश में प्रकट है वह बाद में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चेतना में प्रकाश्य अर्थ के संदर्भ में एकदम परिवर्तित हो जाय—जैसे, भ्रम-निवारण की स्थिति में। वैसे, हुस्सर्ल के अनुसार, सच तो यह है कि सिद्धांततः जगत् में कोई भी वस्तु, कोई भी भाव, अपने उद्भास के सीमित घेरे में केवल 'अपर्याप्ततः' आभासित हो सकता है। इसी से तत्वत संलग्न यह तथ्य है कि इस अपर्याप्ततः उद्भासित आभास पर आधारित कोई भी बौद्धिक स्थापना 'निश्चित' नहीं हो सकती; अर्थात् उक्त आधार से यह निष्पत्ति असंभव है कि 'अमुक वस्तु वास्तविक है'। इससे स्पष्ट है कि क्यों हुस्सर्ल समस्त प्राकृतिक-मानसिक विज्ञानों से परे उस दार्शनिक शुद्ध विज्ञान की खोज करता है जिसमें बौद्धिक स्थापना पूर्णतः निश्चित हो। और इस शुद्ध विज्ञान को वह कांट की तरह 'आभासों' की एक पूरक विधा के रूप में नहीं देखता—कांट 'पराभौतिकी' (मेटाफिज़िक्स) की संभावना के लिए जिन शर्तों का उल्लेख करता है वे उसे अनिवार्यतः आभासों की सीमा में बांध देते हैं। इसके विपरीत हुस्सर्ल पराभौतिकी के रूप में शुद्ध विज्ञान की सभावना के लिए जिन शर्तों को आवश्यक मानता है वे उसे ठीक इन्हीं आभासों में निहित अपूर्णता व अनिश्चितता (अर्थात् अपर्याप्तता) से परे एक पूर्ण और निश्चित तत्त्व-ज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

उक्त शुद्ध व निश्चित विज्ञान (तत्व-ज्ञान) में जो स्वतःप्राकाश्य है वही 'पर्याप्त' है; क्योंकि सिद्धांततः न तो वह अधिक सबल या अधिक पूर्ण बनाया जा सकता है और न ही उसे बदला जा सकता है। दूसरी ओर, अपर्याप्तता के लक्षण वाला स्वतःप्रामाण्य घटता-बढ़ता या बदलता रह सकता है। हुस्सर्ल की धारणा है कि वस्तुओं के प्रत्येक क्षेत्र व कोटि के संदर्भ में न केवल एक मूल अर्थ (एक विधान-सम्मत स्थापना) होता है वरन् साथ ही उस अर्थ से परस्परता वाली एक मौलिक आद्यप्रदत्तक चेतना भी होती है जो तत्त्वतः उस आधारभूत प्रस्तुतिकरण से अनुप्राणित होती है जो उचित वस्तु क्षेत्र या कोटि के अनुकूल है। तदनुसार यह स्वाभाविक है कि किन्हीं आद्य स्तावक चेतना-क्रियाओं के संदर्भ में स्वतःप्रामाण्य केवल अपर्याप्त होगा; जबकि किन्हीं अन्य चेतना-क्रियाओं के संदर्भ में वही पर्याप्त होगा। फिर, उक्त अंतर स्वतः तात्विक है—क्योंकि जो पर्याप्त या अपर्याप्त है वह आद्यतः वैसा है, अर्थात् वह सिद्धांततः सदैव वैसा ही रहेगा।

इस तरह, हुस्सर्ल जिसे 'स्वतःप्रामाण्य' कहता है वह एक विशिष्ट विधा वाली 'स्थापना' ही है, वह स्थापना जिसमें वस्तु के अर्थ का विधान होता है। प्रत्येक स्थिति में इसका आधार अर्थ-क्रिया और वस्त्वर्थ की एकात्ममूलक संरचना है जिससे अनिवार्यता व संभाव्यता दोनों प्रकट होती हैं। यहां संभाव्यता आवश्यकीय संभाव्यता है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थात् वस्तुओं के तात्त्विक स्वभाव द्वारा निर्धारित सानुकूलता (Compatiblity) के एकतामूल आकार जो तात्त्विक नियमों से चतुर्दिक परिवेष्टित होते हैं। यहाँ 'वस्तु' चेतना के तात्त्विक संबंधों की एक अभिधा है। वह पहले 'इस' वस्त्वर्थ के रूप में प्रस्तुत होती है जो अर्थों व स्थापनाओं के विविध तात्त्विक रूपों का 'विषय-धारक' (subject-bearer) है। फिर, उसका रूप बुद्धि के निश्चित संबंधों की अभिधा का होता है जिसमें अंतर्वस्तु-रूप वस्त्वर्थ अर्थ-रूप में बुद्धि से समीकृत हो जाता है—इस तरह उसका बौद्धिक विधान-सम्मत रूप निश्चित होता है। द्रष्टव्य है कि यहाँ वस्तु के अर्थ की जिस विधान-सम्मत स्थापना की विवेचना हुस्सर्ल कर रहा है उसमें समग्र जगत् के वस्तुतः विकसित होने की ओर संकेत है जिससे साथ-साथ आदर्श जगत् के विकास की रूपरेखा भी स्पष्ट होती चलती है। यह महत्वपूर्ण है, क्योंकि साधारणतः 'वस्तुतः' विकासमान जगत् 'आदर्श' जगत् को छिपाता है नकि उसे अपने ही 'अर्थ' में प्रकट करता है।

(ङ) 'सत्य' की अवधारणा :

विधान या स्थापना की क्रिया, चाहे उसका रूप जो हो, का औचित्य मात्र उसके अर्थ की स्थापना और अर्थ द्वारा ही है, बशर्ते कि वह बौद्धिक हो। बौद्धिकता स्वतः औचित्य का लक्षण है। यह लक्षण उसमें तत्त्वतः विद्यमान है। अतः उसके द्वारा स्थापित अर्थ का भी अपना औचित्य होगा ही, अर्थात् ऐसा औचित्य उसमें अपने-आप में निहित है। किंतु जब हम किसी स्थापना, स्थापित अर्थ, के बारे में कुछ कहते हैं, यह आवश्यक नहीं कि वह कथन अपने-आप में बौद्धिक औचित्य वाला हो—यद्यपि उसमें बुद्धि अंशभूत रहती है। इस संदर्भ में बौद्धिक औचित्य की बात हम तभी कर सकते हैं जब उसमें अंतर्निहित आत्म-विश्वास तक पहुँच सकें। किसी भी 'पूर्व-मान्यता'—जैसे किसी तार्किक नियम—पर यही बात लागू होती है : मात्र उस पर विश्वास करना, उसे मान्य करना या ग्रहण करना और तदनुसार कथन करना उसे बौद्धिक औचित्य प्रदान नहीं करता, यद्यपि उसमें बुद्धि का अंश है; जबकि उसके संदर्भ में जो स्वरूपगत बौद्धिकता, अर्थात् बौद्धिक औचित्य के रूप में 'प्राथमिक बुद्धि' है वह उसके 'आद्य-विश्वास' (प्रोटोडॉक्सा) से संलग्न है। उक्त बौद्धिक औचित्य को ही हुस्सर्ल 'सत्य' कहता है जिसका लक्षण उसकी स्वरूपगतता है।

हुस्सर्ल 'सत्य' को आद्य-विश्वास और पूर्ण बौद्धिकता (प्राथमिक बुद्धि) की परस्परता से विशेषित मानता है। सत्य केवल वहीं हो सकता है जहाँ स्वतः-प्रामाण्य की वास्तविक चेतना हो। और यह बात केवल सैद्धांतिक बुद्धि (थ्योरिटिकल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रीज़न) या विश्वासमूलक-तर्कणात्मक सत्य (डॉक्सोलॉजिकल ट्रुथ) या स्वतःप्रामाण्य में ही नहीं है, मूल्यपरक या व्यावहारिक सत्य (स्वतःप्रामाण्य) में भी यह सही है, जहाँ तक इन क्षेत्रों में भी सत्य की अभिव्यक्ति व उसका ज्ञान विश्वासमूलक-तर्कणात्मक सत्य के रूप में होता है। अनुभूतियों, संकल्पों आदि के संबंध में भी हम फिनामिना-लॉजिकीय विधि के सहारे विश्वासों से चलकर आद्य-विश्वासों तक पहुंच सकते हैं। साधारणतः 'ज्ञान' तर्कणात्मक सत्य की ही अभिधा है, जहाँ तक ज्ञाता के दृष्टिकोण का सवाल है, क्योंकि उसकी परस्परता हर स्थिति में स्वतःप्रामाण्यकारक निर्णय-क्रिया से ही होती है। फिर, साथ ही, 'ज्ञान' स्वतः बहुविध प्रमाणकारक निर्णय-क्रिया की भी अभिधा है। इसके अतिरिक्त, बुद्धि की प्रत्येक विश्वास-क्रिया की अभिधा भा वही है। आशय यह कि बुद्धि अपने विविध क्षेत्रों में अपनी एक ही मौलिक एकता को प्रकट करती है।

बुद्धि के सामान्य तत्व (स्व-भाव) की समझ—अर्थात् उस बुद्धि की समझ जो सैद्धांतिक, व्यावहारिक आदि सभी प्रकार की स्थापक क्रियाओ में अपने-आप को एकात्मतः व्यक्त करती है—के साथ ही उन तात्त्विक परस्पर-संबंधों की समझ भी सहजतः उपलब्ध होती है जो सत्य 'भाव' की धारणा को सत्यता, बुद्धि व चेतना से सहयुक्त करती है। ऐसी प्रत्येक वस्तु 'जो सचमुच है' के समानान्तर स्वभावतः एक 'संभाव्य चेतना की धारणा' होती है और उसमें स्वतः वस्तु को आद्यतः और पूर्णरूपेण पर्याप्त ढंग से ग्रहण किया जाता है। विपरीत क्रम में : जब उक्त संभाव्यता प्रमाणीकृत होती है, वस्तु सहज ही 'वह जो सचमुच है' बन जाती है। यह भी द्रष्टव्य है कि, हुस्सर्ल के मतानुसार, प्रत्येक वस्तु-कोटि के समानान्तर विधानमूलक संश्लेषण के तात्त्विक स्वभाव में हम उस संभाव्य आकार-प्रकार (पूर्ण या अपूर्ण) को भी देख सकते हैं जिसे उक्त वस्तु-कोटि ठोस रूप में ग्रहण करती है। साथ ही यह तत्त्वतः निर्धारित है कि कैसे एक अपूर्ण संश्लेष को पूर्णता तक पहुँचाया जा सकता है, अभिप्रायतः परिपूरित किया जा सकता है और कैसे स्वतः अभिप्राय (विषयापेक्षा) को आगे समृद्ध किया जा सकता है।

वस्तुतः प्रत्येक वस्तु-कोटि या वस्तु-क्षेत्र एक सामान्य तत्त्व है, जिसका उसके निज-रूप में सिद्धांततः सही प्रस्तुतिकरण आवश्यक है। अपनी सही प्रस्तुति में वह उस प्रत्येक वस्तु के लिए एक पारदर्शी सामान्य नियम निर्धारित करता है जिसके प्रति ठोस अनुभव में हम चेतन होते हैं। यह नियम निश्चित करता है कि उसकी प्रयोग-सीमा में आ सकने वाली प्रत्येक वस्तु को उसके अर्थ और प्रयोग में पूर्ण निश्चितता, सही आद्य प्रस्तुति, के रूप वाला बनाया जा सकता है। इसी नियम के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सहारे चेतना के निरंतर विकासमान संश्लेष संभव हो पाते हैं। उदाहरणार्थ, वस्तु (भौतिक पदार्थ) के अदृष्ट पक्ष, जिन्हें हम पूर्वनिर्धारित निश्चितता के संदर्भ से जानते हैं, अन्य वस्तु-पक्षों की तरह अनिवार्यतः दैशिक होते हैं। इससे वह विधि-सम्मत नियम प्रस्तुत होता है जिसके अनुसार आभासमान वस्तु के अदृष्ट पक्षों की दैनिक परिपूर्ति की संभावना प्रकट होती है। यह नियम अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में 'शुद्ध ज्यामिति' कहलाता है। इसी तरह वस्तु के कालिक, द्रव्यात्मक आदि निर्धारणों के संबंध में भी समझना चाहिये : इनके संदर्भ में भी अर्थ की संभाव्य पूर्णता के लिए विशिष्ट नियम होते हैं।

स्मरणीय है कि वस्तु (भौतिक या अनुभवातिक्रामी पदार्थ) केवल अपर्याप्ततः प्रतिभासित और इसलिए केवल अपूर्णतः प्रत्यक्षीकृत होता है। क्योंकि वह एक आभास है, अतः न तो वह पूर्णतः निश्चित रूप से प्रस्तुत हो सकता है और न ही अनुभवाश्रित ससीम चेतना में पूर्णतः अंतर्बोध्य हो सकता है। किंतु कांट के 'प्रत्यय' (आइडिया) के रूप में उसकी पूर्ण प्रस्तुति की संभावना अवश्य निर्धारित है—आभास-प्रवाह के प्रागनुभविक निर्धारण के रूप में। यह आभास-प्रवाह (वस्त्वाभास-शृंखला) अपने-आप में सभी ओर से असीम है और साथ ही एक सुगठित बहुविध व्यवस्था के रूप में नियोजित है। इस नियोजन की अनिवार्यता स्वतः उस व्यवस्था की आयोजना में प्रकट है। उस समग्रता का लक्षण व्यवस्था की आयोजना में है जिसमें प्रत्येक आभास के लिए जगह है।

अतः स्पष्ट है कि सत्य के 'भाव' की अवधारणा मूलतः वही है जिसे पहले पूर्णतः (पर्याप्ततः) प्रस्तुत 'भाव' कहा गया है। सत्य 'भाव' अंतस्थ 'भाव' है, अर्थात् ऐसा भाव जो पूर्ण अनुभव है। पूर्व अनुभव वस्त्वर्थ की परस्परता वाला है। यहाँ अनुभव में अंतर्निहित अंतर्दृष्टि पर्याप्त और अंतःस्थ है जिसमें अर्थ और वस्तु की समरूपता है। इस स्थिति में 'वस्तु' ठीक वह है जो विधान-सम्मत रूप में अधिगृहीत है। इसके विपरीत, जहाँ अनुभव में अंतर्निहित अंतर्दृष्टि अंतस्थ न होकर बहिरस्थ (परात्मक) है, प्रक्षेप-विशिष्ट या अनुभवातिक्रामी है, वहाँ वस्तु' के संदर्भ में वस्तुनिष्ठता पर्याप्ततः प्रस्तुत नहीं हो पाती—यद्यपि यह सच है कि यहाँ भी वही प्रागनुभविक नियम प्रस्तुत होता है जिसके सहारे उसकी संभाव्य पूर्णता की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है। किंतु अपने वास्तविक (ठोस) अनुभवों तथा उनके संदर्भ में प्रागनुभविक नियमों के आधार से यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में हमारे अनुभवों की अनिवार्य दिशा क्या होगी। भविष्य में अनुभवों की संभावनाएं अनगिनत हैं। जैसे, उदाहरणार्थ, ज्यामितिक नियमों की व्यवस्था गति मात्र के सभी संभव रूपों का पूर्ण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निश्चिततापूर्वक निर्धारण करती है और इसकी संपुष्टि किन्हीं निरीक्षण-योग्य गतियों पर उसके प्रयोग से हो जाती है। किंतु यह कि वह व्यवस्था किसी वस्तुत: गतिमान वस्तु की गति के लिए कौन-सी वास्तविक दिशा निश्चित करेगी, कहा नहीं जा सकता।

सारांश यह कि प्रत्येक सत्य 'भाव' और उससे संवधित प्रत्येक वस्तुनिष्ठता का क्षेत्र स्वत: अपना चेतन विधान करता है जो प्रागनुभविक विधान (आयोजना) के द्वारा निर्धारित होता है। इसीलिए बुद्धि-तत्त्व के सही अवगमन के लिए हमें अभिप्रायों, अर्थयुक्त स्थापनाओं और संज्ञानात्मक तत्त्वों की ओर लौटना पड़ता है: स्वत: बुद्धि को अनुभवातिक्रामी वताकर केवल उसके आधार पर वस्तु-तत्त्व को समझने का प्रयास सफल नहीं होता। जैसे, भौतिक पदार्थों के क्षेत्र में: वस्तु' की अवधारणा को हम प्रत्ययमूलक विचार 'वस्तु" द्वारा चेतना में प्रस्तत करते हैं जिसकी एक वस्त्वर्थमूलक संरचना होती है। प्रस्तुतिकरण की इस प्रक्रिया में स्पष्टत: हम वस्तु के अस्पष्ट शाब्दिक प्रतिरूप से आरंभ करते हैं। फिर हम इस तरह प्रस्तुत हुई सामान्य-रूप "वस्तु" का अभिप्रायात्मक प्रतिरूप स्वेच्छानुसार उत्पन्न करते हैं—जैसे पंखयुक्त घोड़े, सफेद कौवे आदि, जो उक्त 'वस्तु' के विल्कुल स्वैच्छिक ठोस उदाहरण होते हैं। इस तरह के 'उपादानों' द्वारा हम 'वस्तु'-तत्त्व को प्रत्यय में अंतर्दृष्टिमूलक स्पष्टता से समझ पाते हैं जो वस्त्वर्थ के मूल निर्धारणों का आधार बनता है। अब, यद्यपि यहाँ उपलब्ध "वस्तु"-तत्त्व आद्यत: प्रस्तुत है, यह प्रस्तुति सिद्धांतत: पर्याप्त नहीं है। अवश्य, जैसाकि पहले कहा गया, वस्त्वर्थ को अंतस्थ रूप में पर्याप्तत: (पूर्णत:) प्रस्तुत रूप बनाया जा सकता है; किंतु द्रष्टव्य है कि स्वत: "वस्तु" का क्षेत्र, अपने-आप में अंतस्थ समझा जाने पर भी, वस्तु-तत्त्व को आद्यत: अंतर्दृष्ट की योग्यता वाला नहीं बना पाता। यही वात प्रत्येक विशेष वस्तु पर भी लागू होती है: किसी भी वस्तु से संबंधित विशिष्ट अंतर्दृष्टि, या ऐसी अतर्दृष्टियों की निरंतरता, या उनका संकलन, कभी पूर्ण तात्त्विक निर्धारण की दृष्टि से पर्याप्तता लक्षण वाला नहीं होता—यद्यपि तब तत्त्व में अपर्याप्त अंतर्दृष्टि उनमें भी होती है।

▫▫▫

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

६

कुछ अन्य फिनामिनालॉजिकीय चिंतक

एक फिनामिनालॉजिकीय ग्रांदोलन के रूप में अपने दर्शन की शुरूग्रात करते हुए हुस्सर्ल ने जब यह कहा था कि उसका दर्शन मूलतः एक गवेषणा है जिसमें कई दार्शनिक एक ही ग्रादर्श से ग्रनुप्राणित होकर कार्यरत होते हैं, यद्यपि यह ग्रावश्यक नहीं कि उनके निष्कर्ष एक-जैसे हों, उसकी ग्रवश्य यह ग्रपेक्षा थी कि संभवतः उसके ग्रनुयायी नये निष्कर्षों की स्थापना करेंगे; किंतु तब शायद उसने यह ग्राशा नहीं की थी कि उक्त नई स्थापनाएं स्वयं उसकी ग्रपनी मूल मान्यताग्रों को झुठलाने लगेंगी। प्रस्तुत ग्रध्याय में हम उसके ऐसे ही चार प्रसिद्ध ग्रनुयायियों या समर्थक-चिंतकों के विचार संक्षेप में रखेंगे। यहां हमारा सीमित उद्देश्य यह दिखाना होगा कि किस तरह हुस्सर्ल की कतिपय प्रमुख मान्यताएं उक्त चिंतकों की स्थापनाग्रों के प्रकाश में ग्रालोचना का विषय बनती हैं। स्वतः इन वाद की स्थापनाग्रों से फिनामिनालॉजी को कौनसी नई दिशाएं प्राप्त होती हैं, यह दिखाने की चेष्टा भी हम साथ ही करेंगे।

(क) मेक्स शिलर (Max Shceler)

मेक्स शिलर पहला चिंतक है जो हुस्सर्ल की विचार-धारा से प्रभावित होकर फिनामिनालॉजी के क्षेत्र में नई धारणाग्रों को जन्म देता है। वह हुस्सर्ल से प्राविधिक चेतना के विषय में सहमति रखता है, किंतु विश्वदृष्टिवाद, ठोस ग्रंतर्दृष्टियों तथा विधिमूलक प्रयोगों व व्याख्याग्रों के बारे में उसका उससे गहरा मतभेद है। दूसरी ग्रोर, स्वतः शिलर के चिंतन के बारे में हुस्सर्ल की धारणा है कि वह पर्याप्ततः प्राविधिक या वैज्ञानिक नहीं है। ग्रौर हुस्सर्ल की इस धारणा का कारण बिल्कुल स्पष्ट है: दार्शनिक चिंतन में ग्र-बौद्धिक तत्त्व को स्वीकार कर शिलर हुस्सर्ल-प्रणीत फिनामिनालॉजिकीय वैज्ञानिकता व शुद्धता को डगमगा देता है। शिलर मानव-जीवन ग्रौर ग्रनुभव की समस्या को हुस्सर्ल की तरह सैद्धांतिकता की ग्रापद्-स्थिति में न देख

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर, अधिक ठोस मानव-सामाजिकता की आपद्‌स्थिति में पाता है। तदनुसार वह हुस्सर्ल के 'प्राविधिक अन्तर्बोध' का उपयोग मूल्यों व नीतिशास्त्र को फिनामिनालॉजिकीय आधार प्रदान करने में करता है और फलस्वरूप दार्शनिक नृतत्वशास्त्र, समाज-विज्ञान तथा धर्म-दर्शन के क्षेत्रों में मौलिक व्याख्या कर पाने में सफल होता है। मूल्यों, नीतियों व धर्म-दर्शन की जो विध्वंसक आलोचना नीट्शे ने की, उसके प्रकाश में उनका पुनर्मूल्यांकन व पुनःस्थापन एक आवश्यक दार्शनिक कर्त्तव्य बन गया : शिलर ने अपने चिंतन को इसी कृर्त्तव्यपूर्ति में नियोजित किया। यहाँ उसने स्पष्ट ही यह देख लिया था कि उक्त उद्देश्य के लिए न तो ब्रिटिश अनुभववाद पर्याप्त है और न ही कांट का 'आकारवाद', जबकि हुस्सर्ल की धारणा उक्त दोनों विचारधाराओं के बीच एक संतुलित समायोजन के लिए सचेष्ट रही। अतः स्वभावतः शिलर हुस्सर्ल की विचारधारा के प्रकाश में अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अग्रसर होता है। इस दृष्टि से, हुस्सर्ल-प्रतिपादित वस्तुनिष्ठतामूलक 'तत्त्वों' की धारणा उसे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मालूम होती है, यद्यपि उससे संलग्न तात्विक 'बौद्धिक विधान' की उसकी धारणा का कोई उपयोग वह अपने दर्शन में नहीं करता।

शिलर फिनामिनालॉजी को अबतक का "सर्वाधिक क्रांतिकारी अनुभववाद" कहता है, जो न केवल प्राक्कल्पनामूलक बुद्धिवाद का विरोधी है वरन् साथ ही उस संकीर्ण अनुभववाद का भी विरोधी है जो इंद्रियानुभव के घेरे से बाहर नहीं निकल पाता। किंतु तब शिलर यह भी स्वीकार करता है कि फिनामिनालॉजिकीय अनुभववाद को हुस्सर्ल के सर्वग्राही बुद्धिवाद से एकीकृत नहीं करना चाहिये। शिलर स्वयं किसी प्रकार के प्रति-बुद्धिवाद (इर्रेशनलिज्म) का समर्थक नहीं है, किंतु साथ ही वह बुद्धि के एकछत्र शासन का भी विरोध करता है। वह संज्ञान-क्रिया-संबंधी पारंपरिक द्वैत–जो केवल इंद्रियानुभव व बौद्धिक अवगम्यता की परस्परता के सदर्भ में ज्ञान को बौद्धिक–क्रिया के स्तर तक सीमित कर देता है —का प्रबल विरोधी है। उसके अनुसार मूल्यों को, जो फिनामिनालॉजिकीय या शुद्ध तथ्य हैं, न तो इंद्रियानुभूति के स्तर पर और न ही बौद्धिक क्रिया के स्तर पर बोधगम्य समझा जा सकता है। उन्हें समझने का एक बिल्कुल नया स्तर है जिसे शिलर संवेग (इमोशंस्) का स्तर कहता है। बुद्धि की ही तरह मूल्य-सवेग के भी अपने कुछ प्रागनुभविक नियम हैं जो अपने क्षेत्र में अलघ्य हैं। मूल्य संवेग के संदर्भ वाले अन्तर्बोध की तुलना कांट के 'प्रागनुभविक' से की जा सकती है : कांट के 'प्रागनुभविक' की तरह शिलर का उक्त मूल्य संवेग-मूलक अन्तर्बोध किसी पूर्व प्रस्तुत (संभाव्य) विषय पर कोई प्रारूप आरोपित नहीं करता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने अन्तिम पूर्वविकसित रूप में शिलर का दर्शन एक रहस्यवाद के रूप में उभरता है। 'यथार्थ' के प्रति शिलर का दृष्टिकोण हुस्सर्ल की तरह प्राविधिक दृढ़ता व रूढ़ता का न होकर एक विनम्र अध्येता का है। द्रष्टव्य है कि यहां शिलर का फिनामिनालॉजिकीय उद्देश्य ही हुस्सर्ल के फिनामिनालॉजिकीय उद्देश्य से बिल्कुल अलग हो जाता है: हुस्सर्ल के लिए तत्त्व (शुद्ध तथ्य) केवल चेतना के तत्त्व हैं जबकि शिलर के लिए ये तत्त्व और प्रकार के भी हो सकते हैं। अपने उद्देश्य के लिए हुस्सर्ल 'भाव' को चेतना की ओर झुकाता है जबकि शिलर की दृष्टि में आवश्यक यह है कि स्वतः चेतना भाव की ओर झुके। इसीलिए वह हुस्सर्ल की प्राविधिक अपचय-क्रिया पर यह आपत्ति करता है कि उसके अन्तर्गत 'अस्तित्व' के कोष्ठकीकरण के पूर्व उसका अर्थ स्पष्ट नहीं किया जाता। स्मरणीय है कि हुस्सर्ल की प्राविधिक शैली में यह स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है जबकि चेतना को 'भाव' की ओर झुका मानने वाले शिलर के लिए उक्त 'अर्थ' काफी महत्त्व का है। अब यदि ज्ञानार्जन (शुद्ध ज्ञान का अर्जन) दार्शनिक चिंतन का उद्देश्य है, जैसाकि हुस्सर्ल ने कहा, यह आवश्यक है कि उक्त चिंतन वस्तु के प्रति अपने मूल झुकाव को कायम रखने में किन्हीं नैतिक मूल प्रवृत्तियों से परिचालित हो। शिलर के अनुसार ये मूल प्रवृत्तियां मुख्यतः तीन हैं—एक भावरूप जो प्रेम है और दो अभाव रूप। 'प्रेम' समग्र आध्यात्मिक व्यक्ति का पूर्ण मूल्य और पूर्व भाव के लिए प्रेम है। वह आत्म को उसके अपने सीमित क्षेत्र से भाव की समग्रता की ओर ले चलता है। शिलर का मत है कि प्लेटो के चिंतन के केन्द्र में प्रेम की यही स्थिति है जिसके अनुसार दार्शनिक चिंतन वह क्रिया है जो समूचे व्यक्तित्व को सार रूप में तात्विकता की ऊँचाई तक पहुँचाती है। इस उच्च उपस्थापन का उद्गम प्लेटो के अनुसार, प्रेम (इरोस) है। किंतु इस भाव-रूप-प्रेम प्रवृत्ति की संपूर्ति के लिए शिलर दो अभाव-रूप प्रवृत्तियों को भी आवश्यक समझता है। इनमें से एक है नम्रता जिसमें प्राकृतिक अहं—जो देकार्त से आरंभ होने वाली सारी परम्परा में भाव पर अधिकार जताता रहा है — दब जाता है, और दूसरी प्रवृत्ति है 'आत्मानुशासन', जो समस्त इंद्रियानुभवों से संलग्न जैविक वृत्तियों का निरोध करता है। चूंकि उक्त तीन प्रवृत्तियाँ केवल दार्शनिक (तात्त्विक) विश्लेषण से ही उपलब्ध होती हैं, वे अपने निज-रूप में ऐतिहासिक तथ्य नहीं हो सकतीं। उनका रूप सदैव आदर्श प्रत्ययात्मकता (आइडिया) का है।

दार्शनिक चिंतन के मूल स्रोतों के रूप में उक्त तीन मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त तीन मूल (आद्य) दार्शनिक साक्ष्यों (स्वतः प्रामाण्यों) की भी चर्चा शिलर करता है। ये तीन साक्ष्य हैं: (१) कि कुछ है—देकार्त का 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ',

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(कोजिटो एर्गो सम) नहीं, वरन् भाव का अंतर्ज्ञान, जिसकी विवेचना संभव नहीं। (२) कि, यदि भाव है, वह या तो स्वतंत्र है या आधृत, निरपेक्ष है अथवा सापेक्ष—किंतु इसकी एक अनिवार्य निष्पत्ति यह है कि एक भाव अवश्य स्वतन्त्र या निरपेक्ष है क्योंकि उसके बिना कोई सापेक्ष या आधृत भाव भी नहीं हो सकता। (३) कि प्रत्येक भाव अनिवार्यतः तात्त्विक व सदात्मक है और इसलिए यद्यपि सत् और ज्ञान एक ही नहीं हैं वह जो है और वह जो जाना जाता है एक ही हैं। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त आद्य प्रवृत्तियों व साक्ष्यों का स्वरूप शिलर के चिंतन में 'संकल्पमूलक' है बौद्धिक विधान का रूप वाला नहीं।

(ख) मार्टिन हाइडेगर :

हुस्सर्ल के अनुयायियों में हाइडेगर संभवतः सर्वाधिक प्रभावशाली चिंतक है जिससे फिनामिनालॉजी को एक सर्वथा नवीन दिशा मिलती है। उसे साधारणतः एक अस्तित्ववादी चिंतक समझा जाता है किंतु स्वयं हाइडेगर इसे स्वीकार नहीं करता। अपने दार्शनिक चिंतन को वह "आधारभूत भाववाद" (फंडामेंटल ओंटोलोजी) कहता है जिसे वह एकमात्र फिनामिनालॉजिकीय विधि द्वारा संभव मानता है। शिलर की तरह वह भी दर्शन को "भाव" का विज्ञान कह कर संबोधित करने के विरुद्ध है। वस्तुतः, चूंकि वह कभी एक विज्ञान नहीं बन सकता, उसके संदर्भ में एकमात्र विधि फिनामिनालॉजिकीय विधि ही है। "फिनामिनॉन" का अर्थ हाइडेगर के अनुसार, भाव की "निज–अभिव्यक्ति" है जो उसका ग्रीक धात्वर्थ है। अवश्य वह भी हुस्सर्ल की तरह 'भाव' को 'चेतना' से एकाकार कर देता है, किंतु उसे चेतना द्वारा संरचित नहीं मानता। इसके विपरीत, चेतना को वह 'भाव' का वह उपादान समझता है जो उसकी 'निज-अभिव्यक्ति' का माध्यम है। यहां हाइडेगर चेतना को प्राचीन ग्रीक दर्शन के 'लोगोस' के रूप वाला मानता है, जो उसके अनुसार अपने धात्वर्थ में 'भाषा' के अर्थ वाला है। तदनुसार, 'भाव' का कथन वह क्रिया है जिसमें 'वह जो है' चेतना के प्रति और चेतना में प्रकट है। द्रष्टव्य है कि हुस्सर्ल और हाइडेगर में यह मतैक्य है कि फिनामिनॉन ही स्व-प्रदत्तता के रूप वाला है; किंतु जबकि हुस्सर्ल उस तक जगत् के स्थगन द्वारा पहुँचता है, हाइडेगर उसे अनिवार्य जगत् संदर्भ वाला मानता है। वस्तुतः, जैसाकि पहले स्पष्ट किया गया, हुस्सर्ल 'भाव' को तात्विक रूप वाला मानते हुए उसे 'अस्तित्व-अनस्तित्व' से असंपृक्त कर देता है, जबकि हाइडेगर के लिए 'भाव' सदैव अस्तित्व-संदर्भ में ही अर्थ-युक्त हो सकता है। और अपनी इसी धारणा के लिए वह एक अस्तित्ववादी दार्शनिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समझा जाता है।

यहाँ तक तो हाइडेगर का मत बहुत कुछ हुस्सर्ल की ही अविकसित मान्यताओं का विकास कहा जा सकता है। किंतु हुस्सर्ल से उसका आधारभूत मतभेद तब प्रकट होता है जब वह कहता है कि 'भाव' की अधिकाधिक निजाभिव्यक्ति अन्ततः उसकी अधिकाधिक रहस्यमग्रता को प्रकट करती है; कि उसके संबंध में किसी विज्ञान की बात कह सकना, जिसमें आधिकारिक निश्चितता व स्पष्टता हो, एक दुराशा मात्र है; कि भाव तत्त्वतः गुह्य है—उसकी गुह्यता के आवरण को हटाने पर जो ज्ञान हो पाता है वह भी तत्त्वतः गुह्य है, इत्यादि। वस्तुतः हाइडेगर की इन मान्यताओं में 'अस्तित्व' के संबंध में उसके विचार की केन्द्रस्थता उपस्थित है। अनिवार्य अस्तित्व-संदर्भ वाले भाव को वह किसी वैज्ञानिक ज्ञान की विषय-वस्तु नहीं मानता। अतः 'भाव' का अर्थ जानने की कोई समस्या नहीं है, यद्यपि उसका आशय (सेंस) अवश्य जानना होगा। इस 'आशय' में अर्थ के अतिरिक्त एक 'निर्देशन' (डाइरेक्शन) होता है जो स्वतः भाव की आत्माभिव्यक्ति की दिशा है। भाव एक है, ठीक इसलिए क्योंकि जो कुछ है वह 'भाववत्' है--(अर्थात् इसलिए नहीं कि विशिष्ट विविध भावों से अलग या उनसे ऊपर कोई एक सार्वभौम भाव है)। सभी विशिष्ट भाव भाववत् होने से ही अपने-अपने रूपों में स्थिर, स्पष्ट व निश्चित हैं, किंतु उन्हें उक्त भाववत्ता प्रदान करने वाला भी एक विशिष्ट चेतनामूलक भाव है जो व्यक्ति-रूप मनुष्य है। द्रष्टव्य है कि हाइडेगर के दर्शन की मूल धारणा 'चेतना' न होकर 'व्यक्ति' है। इस 'व्यक्ति' का केवल एक पक्ष वह चेतना है जिसकी चर्चा हुस्सर्ल करता है। अन्यत्व भाव (जगत् भाव) अनिवार्यतः उक्त व्यक्ति-संदर्भ वाला है, जबकि व्यक्ति-भाव (जिसे हाइडेगर 'दाज़े' कहता है) जगत् में ही स्थित होकर अस्तित्वशील है। इस तरह समस्त भाव क्षेत्र में 'व्यक्ति' की स्थिति अति विशिष्ट है: इसी विशिष्टता का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि मनुष्य 'भाव'—आत्म-भाव तथा अन्यत्व भाव—के प्रति सतत रूप में जिज्ञासु बना रह सकता है। यही जिज्ञासा, हाइडेगर के अनुसार, दार्शनिक चिंतन का उत्स है और इसी के प्रकाश में वह कहता है कि 'चिंतनशील प्राणी' के रूप में मनुष्य अनिवार्यतः 'जगदातिक्रामी प्राणी' (मेटाफिज़ीकल एनीमल) है। 'होना' (to be) किसी भी स्थिति में 'भाव' में सहभागी होना है, और मनुष्य इस भाव में इस तरह सहभागी है कि वह भाव की आत्माभिव्यक्ति का साधन-रूप है। इस तरह की 'आत्माभिव्यक्ति' का ही पहला चरण उक्त 'जिज्ञासा' है। इस स्थिति में मनुष्य अपनी स्थूल प्रदत्तता से ऊपर उठता है; उसकी आत्मातिक्रामिता (सेल्फ ट्रांसेंडेंस)—यही हाइडेगर द्वारा प्रयुक्त जर्मन शब्द

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

"दाजाइन"=दा+ज़ाइन=वींग देग्रर का अर्थ है—उसकी उस आत्म-वहिर्प्रक्षेप को संभव बनाती है, जिसमें स्वतः उसके 'अस्तित्व' का अर्थ स्पष्ट होता है। मनुष्य का अस्तित्व स्वयं उसकी अपनी भावाभिव्यक्ति तो है ही, साथ ही वह ऐसी क्रिया भी है जिसके माध्यम से 'वह-जो-है' ठीक-ठीक अभिव्यक्ति पाता है। इस तरह एक ही क्रिया के अन्तर्गत 'आत्म' व 'वस्तु' का अनिवार्य संबंध स्थापित हो जाता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य का अस्तित्व—'अस्ति' (होना) का 'त्व' (तत्त्व)—ही 'होने' का तत्त्व है, क्योंकि बिना इसके 'भाव' का कोई अर्थ नहीं हो सकता।

हाइडेगर का मत है कि दर्शनशास्त्र का सारा इतिहास 'भाव' का इतिहास है। क्रिया-स्वरूप होने से भाव तत्त्वतः ऐतिहासिक है; तत्त्वतः वह एक इतिहास ही है। यह इतिहास हीगेल या मार्क्स की धारणा का इतिहास नहीं है (अर्थात् ऐसा इतिहास जो एक सत् के द्वंद्वात्मक विकास का इतिहास है); वरन् यह स्वतः भाव की आत्माभिव्यक्ति का इतिहास है जो महान् चिंतकों के 'अस्तित्व' में प्रकट होता है। अर्थात् वह व्यक्तियों में प्रकट होता है; किन्तु अपनी समग्रता में वह किसी भी व्यक्ति से स्वतन्त्र है। तदनुसार, प्लेटो, कांट, देकार्त, हुस्सर्ल आदि चिंतकों में उक्त संदर्भ वाली जो जिज्ञासाएँ उपस्थित होती हैं वे वैयक्तिक न होकर स्वतः भाव से उद्भूत हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अपनी जिज्ञासाओं, प्रश्नों का लक्ष्य भू भाव स्वत ही है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि क्यों, हाइडेगर के अनुसार, भाषा स्वयमेव ही, अर्थात् व्यक्ति-विशेष से स्वतन्त्र, भावाभिव्यक्ति का साधन है। इस दृष्टि से भाषा स्वतः अपने-आप में विचरिणीय है। उसका स्वयं अपना जीवन है और इसी जीवन में 'भाव' का आवास है। यही कारण है कि अन्य विचारकों के चिंतन की व्याख्या में हाइडेगर काफी स्वतन्त्र वृत्ति रखता है।

हाइडेगर के व्यक्ति-मूलक 'अस्तित्व' की धारणा का आधार मानव-भाव को तत्त्वतः 'उन्मुखता-लक्षण, वाला भाव' (वींग टूवार्ड्स) समझना है। इसी से 'आत्म' (मानव-आत्म) भाव में निजभाव से उत्क्राम्यता का लक्षण प्रकट होता है, जिसके द्वारा समग्र संभाव्यता का वह क्षितिज प्रकट होता है जिसमें मनुष्य सदैव प्रक्षेप-गति करता है और इसलिए सदैव 'होने' की स्थिति में बना रहता है। यही मनुष्य की 'आत्मातिक्रामिता' का अर्थ है। अवश्य हुस्सर्ल भी 'रुचि' (इंटरेस्ट) की विधा से जगत् में मनुष्य को लिप्त देखता है; किन्तु उसके अनुसार यह मानव-भाव का तात्विक रूप नहीं है—इसीलिए 'अलिप्तता' (इपोख़े) उसकी फिनामिनालॉजिकीय विधि के निषेधात्मक पक्ष का अनिवार्य अंश बन कर प्रकट होता है। दूसरी ओर, हाइडेगर उसी 'रुचि' (जिसे वह "Sorge" कहता है) को मानव-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाव के तात्त्विक अर्थ के रूप में स्थापित करता है। हाइडेगर की दृष्टि में वही अभिप्रायमूलकता, प्रति-चेतना, का आद्य रूप है।

पुनः, हुस्सर्ल की तरह वह भी मानव-भाव को अ-वस्तु-रूप मानता है, जिसका तत्त्व केवल अभिप्राय-क्रियाओं के कर्तृत्व में है। किन्तु वह उसकी तरह मानव-भाव को शुद्ध अहं (चेतना) में अपचयित नहीं करता। चूंकि वह 'भाव' को मानव-भाव में अवगम्यतया उदित होता देखना चाहता है, उसे हुस्सर्ल का मत स्वीकार्य नहीं हो सकता। समग्र मानव-भाव ही भाव के सन्दर्भ में 'व्याख्या का क्षितिज' है—क्योंकि भाव सम्बन्धी सारे प्रश्न मनुष्य-भाव में ही उठते और उठ सकते हैं। तब स्वयं उसका अपना भाव मनुष्य के लिए एक प्रश्न-चिह्न की तरह सामने खड़ा हो सकता है: यही वह स्थिति है जब मानव-भाव की अपनी विशिष्टता—'अस्तित्व'—प्रकट होती है जिसके प्रकाश में वह पाता है कि सबके बीच होकर भी वह एक और अकेला है, कि वह जो कुछ भी है और हो सकता है उसके लिए कुछ भी अन्य उत्तरदायी नहीं है। यहाँ वह जो-कुछ-है वह प्रतिभासतः प्रकट है, अतः उसके अपने सम्बन्ध में 'क्या' जैसा कोई तात्त्विक प्रश्न नहीं बनता। उसके सम्बन्ध में एकमात्र सही प्रश्न है कि वह 'कौन' है—प्रश्न, जो उसे व्यक्ति रूप में क्रिया-विशिष्ट करता तथा तत्सन्दर्भ में उसके उद्देश्य या लक्ष्य की समस्या को उजागर करता है। दूसरे शब्दों में, तत्त्व-हीनता ही मानव-भाव का तात्त्विक लक्षण है। अतः इस दृष्टि से मानव-चेतना में सभी तत्त्वों की आद्य स्थापना का जो निरूपण हुस्सर्ल ने किया वह मूलतः ग़लत है। हाइडेगर के अनुसार 'अस्तित्व मीमांसा,' जो मानव-भाव की मीमांसा है, 'प्रत्यय-मीमांसा', जो मूलतः वस्तु-भाव की मीमांसा है, से सारतः पृथक् है, जबकि हुस्सर्ल दोनों के बीच कोई सीमा-रेखा स्वीकार नहीं करता।

जब मनुष्य (व्यक्ति) अपने भाव पर वस्तु-भाव आरोपित कर केवल निर्देश-सन्दर्भ से अस्तित्ववान् होता है, वह हाइडेगर के मत में अपना स्वाभाविक किन्तु औपाधिक (अनुऑथंटिक) रूप प्रकट करता है: इस रूप के चलते मानव-भाव प्रतिभासतः अपने-आप को प्रकट नहीं कर पाता। दूसरी ओर, उसके निरुपाधिक (ऑथंटिक) रूप में उस पर पड़ा आवरण हट जाता है और परिणामतः वह शुद्ध प्रतिभास बन कर प्रकट होता है। अपने शुद्ध प्रतिभास रूप में वह सम्भाव्यता का भाव (बींग-पोसिबल) वाला बन कर प्रकट होता है—जो संत्रास (एंग्ज़ाइटी) जैसी मनस्क्रियाओं द्वारा सम्भव हो पाता है। यहाँ उसकी अंतिम और एकमात्र निश्चित सम्भावना का रूप 'मृत्यु' का है, जिसमें अन्य समस्त सम्भावनाओं का पर्यवसान होता है। इस अनोखी सम्भावना के सन्दर्भ में ही मनुष्य अपनी तथ्यपरता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(फैक्टिसिटी) का रूप देख पाता है, जो 'कहाँ से' (समस्यामूलक आरम्भ) लेकर 'कहाँ तक' (समस्यामूलक अन्त) खिचा हुआ 'जीवन' है, जिसमें ठहराव या विश्राम के लिए कोई जगह नहीं है। मनुष्य-जीवन के अर्थमय विस्तार के दोनों ओर दो अलंघ्य महाकार शून्य हैं : यह मनुष्य की नियति है कि वह इनमें से एक से निकल कर दूसरी ओर चले। किन्तु चलने में, अपनी अभिप्रायमूलक क्रियाओं में, व्यक्ति पूर्णतः स्वतन्त्र है। वह मूलतः अ-वस्तु रूप है और इसलिए उस पर कोई 'वास्तविक' बंधन नहीं है। यह 'शून्यावेष्टित पूर्ण स्वतन्त्रता' ही व्यक्ति-रूप मनुष्य है—अपनी इस एकाकी अ-वास्तविकता से बच निकलने के लिए ही वह वस्तु-जगत् का आश्रय लेता है और इस तरह अपनी सर्वांग निराश्रित तत्वहीन वैयक्तिकता पर वास्तविक संबंधों व सुविधाओं का आवरण चढ़ा लेता है। यही मनुष्य का सामान्यतः उपलब्ध भाव है जिसे हाइडेगर "एव्रीडेनेस" कहता है, जिसके भावमूलक लक्षणों के रूप में वह 'उथली उत्सुकता,' 'अवगमनात्मक भ्रामकता' और 'हलकी बातचीत' का उल्लेख करता है।

इस तरह हाइडेगर समस्त ज्ञान-मीमांसा को भाव-मीमांसा के घेरे में ले लेता है; जबकि हुस्सर्ल के लिए स्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। यही कारण है कि हुस्सर्ल अपने दर्शन को 'विवरणात्मक' कहता है, जबकि 'भाव' में ज्ञान का उद्देश्य देखने वाला और उसे स्पष्ट करने वाला हाइडेगर उसी दर्शन को मूलतः व्याख्यामूलक (हर्मेन्यूटिक) मानता है। हाइडेगर बुद्धि को सर्व-प्रकाशक विधान-कर्त्ता के रूप में मान्य नहीं करता। 'लोगोस' के रूप में वह अवश्य सर्व-प्रकाशक है कि जो वस्तु-स्थिति जैसी है उसके ठीक उसी रूप में प्रकाशित हो सकने का वह माध्यम है। किंतु मानव-संदर्भ में वह प्रतिरूपणात्मक हो जाता है और फलस्वरूप 'प्रतिभास' को 'आभास' के रूप में बदल कर 'सत्य' को उस आभास से ढाँप देता है। हाइडेगर के मत में 'काव्य' अवश्य इसका अपवाद है, और इसलिए सामान्य मानव-अभिव्यक्तियों में वही ऐसा है जो दार्शनिक चिंतन के सर्वाधिक निकट पहुँचता है। दार्शनिक चिंतन का कार्य उक्त आवरण-युक्त सत्य को अनावृत करना है और यह केवल बुद्धि की अधिग्रहण-क्रिया से संभव नहीं है; उसके लिए वह आद्य 'दृष्टि' भी आवश्यक है जिसे हाइडेगर 'मनःस्थिति' (मूड) कहता है। उक्त 'मनःस्थिति' और 'अवगमन बुद्धि' सदैव परस्पर संलग्न हैं : प्रथम मानव-भाव में निश्चित बहिर्प्रक्षेप के लिए आवश्यक है तो दूसरा उसी मानव-भाव में 'दृष्ट' के अधिग्रहण की विशिष्ट क्षमता प्रकट करता है। अवगमन-बुद्धि की यह अधिग्रहण-क्षमता बहुत-कुछ कांट की 'अंडरस्टैंडिंग' की धारणा से मिलती-जुलती है। किंतु तब यह द्रष्टव्य है कि हाइडेगर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में यह धारणा बहुत विकसित है; क्योंकि यहाँ उक्त 'क्षमता' न केवल वस्तु-संदर्भ वाली है वरन् साथ ही वह स्वतः मानव-भाव को एक विशिष्ट अर्थ में उद्घाटित करती है—'संभाव्य-भाव' के रूप में। इसी 'संभाव्य-भाव' के संदर्भ में हाइडेगर 'काल' (टाइम) को भाव, विशेषकर मानव-भाव, से अशेषतः संलग्न मानता है। वस्तुतः, मानव-भाव की आद्य संरचना 'Sorge' (केअर = चिंता) का ही अर्थ 'काल' है। इससे हाइडेगर का ठीक-ठीक आशय क्या है, कह सकना कठिन है। संभवतः 'काल' मनुष्य के समस्त प्रक्षेपों के लिए एक 'क्षितिज' के रूप में क्रियाशील रहता है, जिससे कि उसके भूत, वर्तमान और भविष्य के बीच एक भावपरक एकता बनी रहती है। द्रष्टव्य है कि हुस्सर्ल भी मानव-चेतना को अनिवार्यतः कालिक मानता है, किंतु हाइडेगर की तरह उसकी काल-धारणा न तो उतनी व्यापक है और न ही वह समग्र भाव, मानव-भाव सहित, के अर्थमूलक अधिष्ठान के रूप में प्रकट हो पाता है।

मनुष्य के व्यक्ति व समाज-रूप पर जिस ठोस दृष्टिकोण से हाइडेगर विचार करता है उस आधार पर उसके दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष मानवतावाद (ह्यूमनिज्म) के रूप में उभरता है—यद्यपि उसके दर्शन के इस पक्ष की अधिक सफल अभिव्यक्ति सार्त्र के दार्शनिक चिंतन में होती है जो हाइडेगर से काफी प्रभावित है। स्वयं हाइडेगर के मानवतावाद को संक्षेप में इस तरह रखा जा सकता है : मनुष्य जगत् में मात्र एक प्राणी (बौद्धिक प्राणी) नहीं है; वह तत्त्वतः जगत् का हिस्सेदार भी है। एक अर्थ में वह जगत् का अभिनियंता है—वही समस्त 'अर्थ' का धारक, अन्वेषक व उद्घाटक है। उसके लिए यही जीवन, यही जगत् (हुस्सर्ल की तरह कोई तत्त्व-जगत् नहीं) सत्य है। इसका केंद्र 'ईश्वर' नहीं, मनुष्य ही है—जैसाकि पहले नीत्शे ने कहा था। अतः वह केवल 'ज्ञाता' ही नहीं, वरन् 'उत्तरदायी कर्त्ता' भी है। उसका उत्तरदायित्व स्वयं अपने लिए और मानव-समाज के लिए ही नहीं है, वरन् वह समस्त जगत्, भाव-मात्र, के समक्ष उत्तरदायी है। स्वतः उसके भाव (अस्तित्व) की महत्ता, उस महत्ता का बोझ और उसकी पीड़ा का रहस्य उसका यह तात्त्विक स्व-भाव ही है।

(ग) ज्याँ पॉल सार्त्र :

हाइडेगर की तरह सार्त्र भी फिनामिनालॉजी की महत्ता उसके एक भाववाद होने में देखता है। किंतु वह हाइडेगर की तरह उसकी परिणति 'तत्त्वमीमांसा' में न समझ कर, विशुद्ध 'अस्तित्ववाद' में समझता है। उसके लिए जगत् बौद्धिक ग्रहण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से परे है और इसलिए वह एब्सर्ड है। इस तरह उसका हुस्सर्ल और हाइडेगर दोनों से ही मत-भेद है।

हुस्सर्ल के दर्शन के बारे में सार्त्र का मत है कि उसमें बर्कले का मनस्वाद प्रतिध्वनित होता है, क्योंकि, भाव और विषयोपेक्षी चेतना के तत्त्वों की व्याख्या में हुस्सर्ल उनका चित्रण अ-यथार्थ के रूप में करता है। वस्तुतः वह 'शुद्ध आंतरवाद' प्रतिपादित करने का दोषी है, जोकि फिनामिनालॉजी की मूल भावना के विपरीत है। चूंकि वह शुद्ध 'क्रियापरक विवरणों' से आगे बढ़ने का साहस नहीं जुटा पाता, उसके दर्शन में 'प्रतिभास' और 'आभास' के बीच भ्रम-सा होने लगता है। आभासों के 'अस्तित्ववादी' स्पष्टीकरण के अभाव में, सार्त्र के मतानुसार, हुस्सर्ल के दर्शन को 'प्रतिभासवाद' (फिनोमिनलोजी) न कह कर 'आभासवाद' (फिनोमिनलिज्म) कहना अधिक सही होगा। उक्त 'अस्तित्ववादी स्पष्टीकरण' से ही 'अनुभवातिक्रामिता' का वह रूप प्रकट होता है जो चेतना से परे जगत् में और आशु वर्तमान से परे भूत और भविष्य में गति कर सके। वैसे भी, अनुभवातिक्रामिता के लक्षण वाले जिस आत्म या अहम् की चर्चा हुस्सर्ल करता है वह अहम्मात्रवाद (सोलिप्सिज्म) से हमारी रक्षा कर सकने में बिल्कुल असमर्थ व अनुपयोगी है। अनुभव में जो अनिवार्य ठोस 'अन्यत्व' का बाधक तत्त्व है उसके प्रति वह न्याय नहीं कर पाता। हुस्सर्ल का यह सोचना भी ग़लत है कि तत्त्वों का तात्त्विक प्रतिभासवाद मनुष्य की स्वतंत्रता को सार्थक बनाता है। सार्त्र के अनुसार, स्वतंत्रता मानवचेतना का ही अपना रूप है जो मानव-तत्त्व के रूप में उसके तत्त्वहीन अस्तित्व का ही दूसरा नाम है।

स्पष्ट है कि सार्त्र द्वारा की गई उक्त आलोचना का आधार स्वतः हुस्सर्ल की धारणाएँ हैं और इसलिए इस आलोचना का ठोस आधार है; किंतु तब यह भी देखना चाहिए कि अधिकांशतः यह आलोचना अतिरंजित है और उसके वैसा होने का कारण स्वतः सार्त्र की अपनी दार्शनिक मान्यताएँ हैं। यह तथ्य इससे प्रकट है कि एक ओर तो वह हुस्सर्ल द्वारा दिये गए चेतना-क्रियाओं के विवरणों को प्रायः सही मानता है, किंतु दूसरी ओर यह कह कर उसकी आलोचना करता है कि वह स्वतः चेतना के भाव का भावमीमांसामूलक प्रश्न नहीं उठाता। स्मरणीय है कि हाइडेगर ने भी हुस्सर्ल की आलोचना इसी आधार पर की है। अवश्य यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस तरह की आलोचना का आधार स्वयं हुस्सर्ल का यह विचार था कि देकार्त संज्ञान-स्थिति से आत्मास्तित्व की स्थापना की बात कह कर चुप रह गया, जबकि उसी स्थिति से, अनुभवातिक्रामिता के सहारे वह आत्म-तत्त्व की विस्तृत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विवेचना कर सकता था। अब हुस्सर्ल द्वारा देकार्त की इसी आलोचना को आगे बढ़ाते हुए और उसे स्वतः हुस्सर्ल पर लागू करते हुए, हाइडेगर और सार्त्र कहते हैं कि हुस्सर्ल ने इस आत्म-तत्व को ज्ञानमीमांसा की विषय-वस्तु बना कर उसको स्वरूप-भ्रष्ट कर दिया, क्योंकि उसका सही रूप केवल भावमीमांसा में संभव है। और चूंकि स्वतः आत्म के संबंध में हुस्सर्ल भावमीमांसापरक व्याख्या करने से चूक गया, जगत् के संबंध में भी यही करना उसके लिए बिल्कुल स्वाभाविक था। और यह 'चूक' बड़ी महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसके चलते 'आत्म' और 'जगत्' अंत तक अधर में ही लटके रह गए।

'अनुभवातिक्रामिता' के संबंध में हुस्सर्ल की ही आलोचना कर सार्त्र संतुष्ट नहीं होता वरन् उसी संदर्भ में वह हाइडेगर की भी आलोचना करता है। उसके अनुसार हाइडेगर ने उक्त धारणा को प्रत्ययात्मक बुद्धिवाद से आगे नहीं बढ़ने दिया है। इसका एक दुष्परिणाम, सार्त्र की दृष्टि में, यह हुआ कि, मनुष्य के 'सामाजिक अस्तित्व' (मित्ज़ाइन) की हाइडेगर की व्याख्या पूर्णतः विकसित नहीं हो पाई। वस्तुतः मानव-चेतना के संबंध में सार्त्र के कुछ अपने विचार हैं जो हाइडेगर के विचारों से मेल नहीं खाते। इस संबंध में सार्त्र के विचार 'वस्तु' और 'आत्म' की खाई को पाटने के उसके उद्देश्य से अनुप्राणित हैं। साधारणतः 'वस्तु' और 'आत्म' की मूल भिन्नता 'वस्तु का अनुभव' और 'स्वातंत्र्य का अनुभव' की भिन्नता में प्रकट है। प्रथम की तरह द्वितीय प्रकार का अनुभव भी चेतना का ही रूप है जो सदैव 'उकताहट' (नॉसिआ) की मनःस्थिति में प्रकट होता है। यह उकताहट या ऊब सर्वथा अ-कारण है, क्योंकि वह मानव-अस्तित्व का ही लक्षण है: अस्तित्त्व के हृदय में ही 'शून्यता' है और वह सदैव 'अर्थहीन' वस्तु से आक्रांत रहता है। वस्तु व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए एक सतत ख़तरा है, क्योंकि वह सदैव उसके 'अस्तित्व' को ढांप लेने के लिए सचेष्ट रहता है। मानव-अस्तित्वं को भी वह वस्तु-रूप देना चाहता है। अस्तित्व का रूप सदैव इतरोन्मुख भाव (बींग फार) है, जबकि वस्तु का अपना रूप 'भाव-स्थ' (being-in) है, जैसाकि वह वस्तु के अनुभव में प्रकट हैं।

उक्त 'स्वातंत्र्य' (भाव-परात्मकता) और 'भावस्थता' के द्वैत से सार्त्र 'शून्यता' के माध्यम से निपटता है। अपने स्वभाव में शून्यता के अनिवार्य लक्षण वाली चेतना 'भावस्थता' से ही अपने-आप को परिपूरित करती है। इस तरह परिपूरित होकर ही चेतना अस्तित्वशील बनती है। दूसरी ओर 'भावस्थ', जिसे सार्त्र प्रायः 'भाव' कहता है, बिना चेतना के भी संभव है, और इसलिए भावतः वह चेतना से अधिक ग्राह्यता के लक्षण वाला है। अपने मूल स्वातंत्र्य में भी चेतना की शून्यता भाववत् है, और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसीलिए वह भाव जगत् की अर्थहीनता में अर्थ भर सकता है। इस दृष्टि से शून्यता-लक्षण से युक्त होकर भी चेतना संभाव्यता तथा भूत-भविष्य की कालिक-विधाओं को अपने स्वभाव में प्रकट कर सकती है। इस तरह 'चेतना' और 'वस्तु' एक-दूसरे को अनिवार्यतः निर्देशित करते हैं; उनके बीच एक तरह का भावमूलक संश्लेष स्थापित हो जाता है।

द्रष्टव्य है कि सार्त्र अपने दर्शन में हुस्सर्ल की 'निरूपणात्मक फिनामिनालॉजी' की धारणा तथा हाइडेगर की 'व्याख्यात्मक फिनामिनालॉजी' की धारणा को समान रूप से जगह देता है। वस्तुतः वह प्रथम के अंदर ही द्वितीय को स्थापित करता है। हाइडेगर द्वारा की गई हुस्सर्ल की इस आलोचना से वह सहमत है कि हुस्सर्ल भाव की समस्या से हटकर उस चेतना से उलझ जाता है जो केवल तत्त्वों से संबंधित है। अतः स्वयं हाइडेगर ठोस मनुष्य (मानव-भाव) की फिनामिनालॉजी पर ज़ोर देता है। किंतु इस व्यक्ति-रूप मानव-फिनामिनालॉजी को सार्त्र पुनः चेतना की फिनामिनालॉजी में बदलता है। यहाँ एक बार पुनः वही 'संज्ञान' की धारणा प्रमुख हो जाती है जिसे हाइडेगर पहले अस्वीकृत कर चुका है। सार्त्र देकार्तवाद की ओर लौटता प्रतीत होता है। उसका मूल मंत्र है : "संज्ञान ही हमारा आरंभ-बिंदु है।" किंतु यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि सार्त्र की देकार्त की समझ वही नहीं है जो हुस्सर्ल की है। सार्त्र के चिंतन में वह हाइडेगर के 'मानववाद' से संतुलित है। वस्तुतः सार्त्र 'अस्तित्ववाद' को 'मानववाद' कहता है, जिसके अनुसार जगत् अनिवार्यतः मानव-जगत् है। वह मानव-मनस् द्वारा संरचित है और उसमें ईश्वर के लिए कोई जगह नहीं है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि सार्त्र हुस्सर्ल के 'अहं' को पूर्णतः अस्वीकृत करता है। उसके अनुसार, अहं चेतना की मूल संरचना का भाग नहीं है वरन् वह उसमें चेतना की सतत विधानात्मक क्रिया से पैदा होता है। केवल मनन या आत्म-चिंतन की विधा वाली चेतना में ही अहं (मैं) मिलता है, अन्यथा साधारण अनुभव में वह नहीं पाया जाता। जैसे, जब मैं पुस्तक पढ़ता हूँ तो केवल पुस्तक और उसके विविध पक्षों का अनुभव मुझे होता है। पढ़ने वाले 'मैं' का अनुभव मुझे नहीं होता। अवश्य तब एक आंतरिक अनुभूति पठन-क्रिया की होती है किंतु उसका रूप 'अहं' का नहीं होता। पठन-कर्त्ता अहं (मैं) आत्म-चिंतन से रचित होता है। दूसरे शब्दों में, चेतना अपनी मूल संरचना में अ-वैयक्तिक है, जबकि इसी संरचना-संदर्भ से 'अहं' व 'जगत्' दोनों की ही रचना होती है। समस्त प्रतिभासों का उत्स यह अ-वैयक्तिक चेतना-सरचना है। मानव-अस्तित्व का मूल रूप भी वही है। इस तरह, जबकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हुस्सर्ल अहं को चेतना के केन्द्र में स्थापित करता है, जो मूलतः हाइडेगर को भी स्वीकार्य है, सार्त्र उसे केवल प्रतिभास-रूप में रचित मानता है और इसे वह चेतना की परात्मकता के लिए कोई बाधा नहीं समझता। उसके मत में अब केवल फिना-मिनालॉजी का पूर्ण मानवीकरण हो जाता है, क्योंकि चेतना अनिवार्यतः मानव-अस्तित्व के रूप में प्रकट होती है। इस तरह स्पष्ट है कि हाइडेगर और सार्त्र के दर्शन में काफी साम्य होने पर भी यह महत्त्वपूर्ण अंतर है कि जबकि सार्त्र 'चेतना' और 'अस्तित्व' को एकीकृत कर देता है, हाइडेगर ऐसा नहीं करता। इसी से संलग्न उनके 'अस्तित्व' संबंधी चिंतन का यह मूल भेद भी द्रष्टव्य है : हाइडेगर का मत है कि 'अस्तित्व' का अर्थ ही ऐसा है कि वह मानव-भाव के 'सत्य' (ऑथेंटिक) और 'अ-सत्य' (अन-ऑथेंटिक) होने की संभाव्यता प्रकट करता है, अर्थात् उसे जो उसका तात्विक लक्षण है; जबकि सार्त्र के अनुसार अस्तित्व सदैव सभी प्रकार के तत्त्वों का पूर्वगामी है : मनुष्य की ठोस चेतना उसकी पूर्णतः स्वतंत्र क्रियाशीलता या रचना-त्मकता रूप का है, जिसमें किसी तरह स्थायी तत्त्वों या तथ्यों के लिए कोई जगह नहीं है।

आत्म-चिंतन-पूर्व चेतना को सार्त्र 'अ-चेतन' कहता है। उल्लेखनीय है कि हुस्सर्ल भी आत्म-चिंतन-पूर्व चेतना को मान्य करता है और उसे अनिवार्यतः बाह्य-निर्देश वाला बताता है; किंतु तब वह उक्त चेतना की क्रियाओं को ही आत्म-चिंतन का विषय बताता है। दूसरी ओर, सार्त्र इस प्रश्न पर ज़ोर देता है कि, हम अपनी आत्म-चिंतन की क्रियाओं को किस तरह जान सकते हैं? द्रष्टव्य है यहाँ पुनः आत्म-चिंतन को हमारे उस ज्ञान का आधार नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि अनवस्था-प्रसंग उपस्थित होगा। इसलिए इसके समाधान-हेतु सार्त्र हमारा ध्यान चेतना-क्रियाओं के उस विशेष बोध को आकर्षित करता है जो आत्म-चिंतन की विषयपरक (थेमैटिक) चेतना से भिन्न है। यह अ-विषय-बोधात्मक चेतना साधारण विषय-बोधात्मक चेतना (ज्ञान) से भिन्न है। इसे ही वह आत्म-चेतना-पूर्व चेतना या आत्म-चिंतन-पूर्व संज्ञान कहता है। यह हमारी समस्त बाह्य निर्देशपरक व आत्मचिंतनमूलक चेतना के साथ-साथ उपस्थित रहता है। यहाँ अ-चेतन चेतना हमारी चेतना की भाव-विधा है। उदाहरणार्थ, यह हमारे द्वारा की गई अंकों की गणना की चेतना है जिसमें गणन-क्रिया पर कोई चिंतन नहीं हुआ है। इस दृष्टि से, सुख (जैसी मनःस्थितियाँ) सुख-की-चेतना से भिन्न नहीं है। वस्तुतः "सुख की चेतना" जैसी अभिव्यक्तियाँ भ्रामक हैं; क्योंकि चेतना तो पूरे मानव-अस्तित्व में समाई है।

चेतना के उक्त अभावमूलक (या शून्यता) लक्षण से ही चेतना की अनिवार्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वतंत्रता को ग्राधार मिलता है। यह स्वतंत्रता मनुष्य द्वारा अर्थ के निश्चयन और उसके अपने अस्तित्व के दिशा-निर्धारण में स्पष्टतः प्रकट है। इसी स्वतंत्रता का एक मूल लक्षण 'अंतर्व्यथा' (एंग्विश) है—जो चेतना की वह मनःस्थिति है जो उसे उसकी पूर्ण संभाव्यता के प्रकाश में और उसकी मौलिक स्वतंत्रता के संदर्भ में पूर्ण उत्तरदायित्व के फलस्वरूप निरंतर बेचैन किये रहती है। इस तरह, यह हाइडेगर की आद्य 'दृष्टि' रूप मनःस्थिति 'संत्रास' (एंग्ज़ाइटी) से भिन्न है—यद्यपि स्पष्टतः उसी से प्रेरित है और 'संत्रास' की ही तरह वह भी वस्तु-धर्म से किसी तरह संबंधित नहीं है—क्योंकि हाइडेगर का 'संत्रास' मनुष्य के उसके अपने अवस्तुमूलक प्रतिभास-भाव के अधिग्रहण की मूल मनःस्थिति (दृष्टि) है, सार्त्र के 'अंतर्व्यथा' की तरह उस भाव को नैतिक 'दायित्व' से परिपूरित करने वाली मनःस्थिति नहीं। किंतु उक्त दोनों मनःस्थितियों की अनुपलब्धि का प्रभाव प्रायः एक-जैसा है : जबकि मानव प्रतिभास-भाव के अधिग्रहण के अभाव में मनुष्य बार-बार अपनी 'अ-सत्यता' की ओर लौटता है, ठीक उसी तरह उक्त 'अंतर्व्यथा' के अभाव में भी, क्योंकि मनुष्य निरंतर उससे भाग निकलने की चेष्टा में लगा रहता है, वह 'कुनिष्ठा' या 'कु-आस्था' (बैड फैथ) की स्थिति में पड़ा रहता हैं।

(घ) मॅर्लो पॉन्ती

'जीवंत जगत्' (लेबेंश्वैत) की धारणा अवश्य हुस्सर्ल की है, किंतु स्वयं उसने इसकी अधिक विस्तृत विवेचना नहीं की है। दूसरी ओर, मर्लो पॉन्ती के समग्र दर्शन में मूलतः उक्त 'जीवंत जगत्' ही विस्तृत और गहन गवेषणा का विषय है। द्रष्टव्य है कि पॉन्ती द्वारा उक्त धारणा का इतना विस्तृत और गहन अध्ययन इसलिए संभव हो पाया है क्योंकि वह उसे हुस्सर्ल की तरह चेतना के तात्त्विक जीवन में अपचयित करने के विरुद्ध है—यद्यपि वह स्वीकार करता है कि उसके अंतर्गत वस्तुओं का प्राकृतिक-कारणपरक अध्ययन नहीं किया जा सकता। मनुष्य की अस्तित्वमूलक स्थिति के संबंध में हुस्सर्ल से उसका गहरा मतभेद है : हाइडेगर की ही तरह वह भी मनुष्य को अनिवार्यतः जगत् में स्थित भाव मानता है और कहता है कि मानव-संदर्भ में समस्त 'बोध' (ज्ञान) केवल उसी रूप में संभव है। तदनुसार 'सत्य' भी किसी अंतःस्थ 'मानव' (चेतना) संदर्भ वाला नहीं है—इसीलिए वह कहता है कि 'फिनामिनालॉजिकीय अपचय' से हमें यह सीख मिलती है कि उसकी पूर्णता असंभव है। वस्तुतः वह 'प्राकृतिक जगत्' के बदले एक 'जीवंत जगत्' को ढूढ़ निकालने की विधि है—हुस्सर्ल की तरह उसके सहारे किसी शुद्ध चेतना के जगत् की यात्रा में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं निकला जा सकता। इस तरह पॉन्ती हुस्सर्ल के 'शुद्ध विज्ञानवाद' और 'फिनामिनालॉजिकीय प्रत्ययवाद' का खंडन करता है।

इसी तरह हुस्सर्ल की 'तात्त्विक अपचयन' की विधि—जिससे वह 'सत्ता' से 'सत्त्व' (तत्त्व) की ओर बढ़ता है—भी पॉन्ती के लिए मात्र एक साधन है जिसके द्वारा अनुभव के जीवंत संबंधों को 'पकड़ा' जाता है। इस तरह वह दार्शनिक चिंतन का कोई 'उद्देश्य' नहीं है, जैसाकि हुस्सर्ल ने उसे समझा था। पॉन्ती के अनुसार फिनामिनालॉजी—जो 'दर्शन' का ही पर्याय है—तथ्यों को उनकी अपनी विशिष्टता में, समस्त भाषागत अभिव्यक्तियों के पूर्व, 'पकड़ने' की चेष्टा करता है। तात्त्विक अपचयन उसके इस प्रयास में परोक्षतः मदद कर सकता है—इस तरह कि वह तत्त्वों की पृष्ठभूमि में जगत् को उभार कर सामने लाता है। उसके अनुसार यह उस 'संकल्प' का रूप है जो जगत् को मनःस्थितियों व प्रत्ययों में अपचयित करने से पहले उसके अपने रूप में प्रकट करता है। इस तरह यहाँ फिनामिनालॉजी का मुख्य विषय आदर्शमूलक 'तत्त्व' न होकर वास्तविक 'तथ्य' है। पॉन्ती का मत है कि स्वयं हुस्सर्ल भी अपने चिंतन के अंतिम चरण तक तत्त्वों पर पूरी आस्था नहीं रख पाया।

पॉन्ती के हाथों फिनामिनालॉजी की एक महत्त्वपूर्ण धारणा 'विषयापेक्षा' को भी एक नया आयाम मिला है: उसके अनुसार उसका मुख्य कार्य जगत् को 'बना-बनाया' (अर्थात् रचित नहीं) और पहले ही 'वहाँ'—जैसाकि सार्त्र ने भी कहा—के रूप में प्रस्तुत करना है। पुनः वह उसका क्षेत्र भी अधिक विस्तृत मानता है—वह न केवल हमारी चेतना-क्रियाओं का लक्षण है वरन् जगत् और अन्य व्यक्तियों से हमारे सारे संबंधों की जड़ में भी वही है। हमारे समस्त वैयक्तिक व सामाजिक पक्ष उसी में अवतरित हैं।

यह भी स्पष्ट है कि चूंकि पॉन्ती अपने दार्शनिक चिंतन के मूल में 'जीवंत जगत्' को मानता है। इसलिए उसे हुस्सर्ल की तरह 'आत्म-चिंतन' की केंद्रीय महत्ता स्वीकार्य नहीं हो सकती। निस्संदेह, उसके अनुसार वह उस आत्मचिंतन (मनन) को प्राप्त कर सकने में असमर्थ है जो फिनामिनालॉजी का उद्देश्य है। पॉन्ती का कथन है—"फिनामिनालॉजी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि निस्संदेह जगत् व बौद्धिकता की धारणा में ऐकांतिक आत्मनिष्ठतावाद तथा एकांतिक वस्तुनिष्ठतावाद को परस्पर समन्वित करनाहै।" किंतु यहाँ 'बौद्धिकता', 'जगत्' की ही तरह, हुस्सर्ल की 'बौद्धिकता' नहीं है, क्योंकि यह तो फिनामिनालॉजिकीय चिंतन का ही कार्य है कि वह 'जगत् और बुद्धि की रहस्यमयता' को स्पष्ट करे। इस 'स्पष्टीकरण' को वह वायलेंट एक्ट भी कहता है जो उस स्पष्टीकरण के प्रमाण का आधार बनता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनस्क्रियाओं में 'प्रत्यक्षीकरण' पर पॉन्ती सर्वाधिक ज़ोर देता है। किंतु साथ ही वह प्रत्यक्षीकरण की पारम्परिक धारणा की आलोचना भी करता है। उसके अनुसार इस धारणा के चलते जगत् मानसिक अणुओं में विभक्त हो जाता है। दूसरी ओर, स्वयं उसके प्रत्यक्ष की धारणा में प्रत्यक्ष जगत् को प्रतिभास रूप से प्रकाशित करता है। इसके अंतर्गत प्रत्यक्षीकरण एक गेस्टाल्ट के रूप में जीवंत होता है और उसी के अनुकूल एक समग्र अर्थ-क्षेत्र के रूप में व्यक्त होता है। किंतु इस तरह उपलब्ध प्रत्यक्षीकरण अपने-आप में पर्याप्त नहीं है। पॉन्ती के अनुसार वह अनिवार्यत: उस चिंतन में बदल जाता है जिसमें 'प्रतिभास का प्रतिभास-रूप' स्पष्ट होता है। चिंतन की इसी विधा को वह 'परात्मक फिनामिनालॉजी' कहता है जिसके अंतर्गत फिनामिनालॉजिकीय संज्ञान रूप परात्मक आधार-भूमि पर आद्य प्रतिभास अपने-आप को संरचित करते हैं, जिससे कि संज्ञान से अधिक आधारभूत स्तर 'लोगोस', विशेषत: 'अस्तित्व', को पाया जा सके। द्रष्टव्य है कि यहां पॉन्ती की विवेचना का आधार देकार्त-प्रतिपादित शुद्ध चेतना नहीं है। उसका 'आधारभूत परात्मक अस्तित्व' अ-वैयक्तिक या परा-वैयक्तिक आत्म नहीं है: वह न तो सर्वत्र है और न ही 'कहीं-भी नहीं'। उसका केंद्र हमारे वैयक्तिक अस्तित्व में ही है। वह 'प्रवृत्त चेतना' (एंगेज्ड कांशसनेस) है जो 'जगत् में निमग्न' है। प्रवृत्त चेतना मात्र एक 'प्रति-चेतना' नहीं है वरन् एक प्रतिबद्ध चेतना (कमिटेड कांश्यस्नेस) है—जैसाकि सार्त्र भी कहता है। किंतु पॉन्ती के चिंतन में प्रतिबद्ध चेतना का रूप अधिक विकसित है (सार्त्र की अपेक्षा): चेतना का शरीर से तादात्म्य है— वह अनिवार्यत: शरीर के प्रति 'आकृष्ट' चेतना है और उसी रूप में सदैव उससे संश्लिष्ट है। यही 'प्रवृत्त चेतना' पॉन्ती के 'प्रत्यक्षीकरण' का आधार है।

इस तरह स्पष्ट है कि पॉन्ती के दर्शन में 'प्रत्यक्षीकरण' की प्राथमिक महत्ता अर्थ-संदर्भ से स्वत:प्रामाणिकता की नहीं है—उसकी महत्ता का असली कारण है कि वह समस्त ज्ञान का प्राथमिक स्तर है और इसलिए अन्य सभी स्तरों (वैज्ञानिक, सांस्कृतिक) के अध्ययन में उसका अध्ययन आवश्यक है। वस्तुत: यहाँ जीवंत जगत् ही अध्ययन का विषय है, स्वत: प्रत्यक्षीकरण की क्रिया नहीं, जैसाकि वह हुस्सर्ल में है। शुद्ध संज्ञान 'शुद्ध चेतना' न होकर 'जगत् में हमारी स्थिति' रूप वाला है। इसी में 'वस्तु—वह जैसी है', स्वलक्षण वस्तु, का रूप स्पष्ट होता है: "प्रत्यक्षीकरण प्रत्यक्ष प्रदत्तों के संश्लेष से उत्क्षिप्त अंत:स्थ अर्थ को देखना है।" इस 'देखने' में अवश्य एक आशंका" (रिस्क) है, क्योंकि अपने-आप में वह केवल एक विश्वास—'जगत् में विश्वास'—है, और इसलिए निश्चितता के उद्देश्य वाले किसी भी अन्वेषण की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यर्थता बिल्कुल स्पष्ट है। द्रष्टव्य है कि यहाँ पॉन्ती का संकेत हुस्सर्ल के 'पूर्ण प्राविधिक विज्ञान' की धारणा की ओर है जिसका आशय तत्त्वों का पूर्ण व निश्चित ज्ञान है। पुनः, स्वतः अर्थ की दृष्टि से भी उक्त पूर्णता व निश्चितता की बात करना व्यर्थ है : हमारे जीवंत अनुभव व अर्थ-क्षेत्र के असीम विस्तार के फलस्वरूप उस संदर्भ में हमारा अधिग्रहण कम या अधिक हो सकता है; उसके 'पूर्ण' व 'निश्चित' अधिग्रहण की बात करना व्यर्थ है। तदनुसार 'सत्य' की अविधारणा का रूप भी समझना चाहिये : वह अपने-आप से संरचित है और तत्त्वतः ऐतिहासिक है—वही समस्त वस्तुनिष्ठ व मानव-विज्ञानों का आधारभूत उत्स है और किसी भी विज्ञान से उसके समग्ररूपेण निरूपण की आशा रखना व्यर्थ है।

स्पष्ट है कि पॉन्ती हुस्सर्ल की एक आधारभूत मान्यता पर चोट कर रहा है : पान्ती के अनुसार हुस्सर्ल ने अपने समक्ष एक असंभव लक्ष्य रखा है जो अपने मूल में ग़लत भी है। ज्ञान में निश्चितता और पूर्णता की धारणा ऐकांतिक और अमूर्त है और वह फिनामिनालॉजी की मूल भावना के विपरीत है। इसी आधार पर वह हुस्सर्ल द्वारा प्रतिपादित फिनामिनालॉजिकीय और निरूपणात्मक मनोविज्ञान के बीच समानान्तरता के सिद्धांत की भी आलोचना करता है : पॉन्ती के अनुसार दोनों के बीच समन्वय ही फिनामिनालॉजिकीय दृष्टिकोण से उचित है। पुनः, वैज्ञानिक आगमन और फिनामिनालॉजिकीय अंतर्बोध वस्तुतः एक ही हैं। इसी तरह सार्त्र द्वारा 'तथ्य-ज्ञान' व 'तत्व-ज्ञान' के बीच अनिवार्य अंतर का सिद्धांत प्रतिपादित करना भी विशुद्ध फिनामिनालॉजिकीय दृष्टि से अनुचित है। अवश्य प्रकृति-विज्ञान के रूप में तथ्य-ज्ञान का शुद्ध वस्तुवादी दृष्टिकोण ऐकांतिक है, किंतु उसकी यह ऐकांतिकता मानव-विज्ञानों (मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, इतिहास-विज्ञान) में समाप्त हो जाती है जहाँ जीवंत अनुभवों व अर्थों की उपेक्षा नहीं की जाती। इस तरह, पॉन्ती के अनुसार, फिनामिनालॉजी व विज्ञान एक ही केंद्र पर इकट्ठे होते हैं।

पान्ती-प्रतिपादित 'जगत्' की धारणा में भी हमें एक नवीनता के दर्शन होते हैं। जगत् हमारे अनुभवों का क्षेत्र है जिसमें हम (प्रत्येक व्यक्ति) एक दृष्टिकोण (पर्स्पेक्टिव) की तरह हैं। 'बाह्य' और 'आंतर', आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता, अपृथक्करणीय हैं। "समग्र जगत् मुझमें है और मैं समग्रतः अपने-आप से बाहर हूँ।" हम (अर्थात् देहसंश्लिष्ट हमारी चेतना) 'जगत्' में अवियोज्यतः स्थित है—वह केवल 'जगत् में' स्थित नहीं है, जैसाकि हाइडेगर ने कहा। "मनुष्य संबंधों का एक समूह (संश्लेष) है; संबंध ही मनुष्य है।" मनुष्य एक समग्र संरचना (जगत्) का अविभाज्य पक्ष भर है। मनुष्य का यह स्वरूप-विवेचन वस्तुतः पॉन्ती की काल-विवेचना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर आधारित है। इसमें वह हुस्सर्ल और हाइडेगर दोनों के मतों का समन्वय करता है। काल वस्तुनिष्ठ जगत् का ही एक पक्ष मात्र नहीं है। उसका 'अर्थ' अनिवार्यतः मनुष्य-भाव पर आधारित है। भूत और भविष्यत् हमारे ही आत्म के आयाम हैं। इस रूप में वे हमारे 'वर्तमान' में प्रकट होते हैं। हमारी वर्तमान-काल-चेतना ही उनका आधार है। केवल वस्तुनिष्ठ वर्तमान के आधार से भूत और भविष्य को नहीं समझा जा सकता। वस्तु-भाव की सुदृढ़ व पूर्ण ठोसता को चीर कर आत्म उसमें दृष्टिकोण का तत्त्व स्थापित करता है—अर्थात् सार्त्र के 'अ-भाव' का तत्त्व। इस तरह वह 'वर्तमान' में भूत और भविष्यत् तक पहुँचता है। आत्म का यह गुण ही उसका 'अस्तित्व' है—जैसाकि सार्त्र और हाइडेगर ने भी समझा था। अंततः आत्म और काल अभिन्न हैं, और यही मनुष्य (आत्म) की मूल स्वतंत्रता का आधार है।

▫▫▫

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पारिभाषिक शब्दावली

[द्रष्टव्य : अपने दार्शनिक चिंतन की नवीनता के अनुकूल फिनामिनलॉजिकीय दार्शनिकों ने किन्हीं शब्दों के नये अर्थ या पुराने अर्थ को नये आयाम दिये हैं, जोकि प्रस्तुत पारिभाषिक शब्दावली में भी लक्षित होंगे]

अमूर्त abstract
अन्तर्व्यथा anguish
असत्य, औपाधिक unauthentic
अर्थाभ्युपगम,कोटि category
अन्तर्वस्तु content
अनुभवानुगामी(विमर्शात्मक)discursive
अहम्, आत्म ego
अहम्-चेतना ego-consiousness
अहम्मनस्, विषयी अहम् ego-subject
अनुभववाद empiricism
अलिप्तता epoche
अस्तित्व existence
अस्तित्ववाद existentialism
अनस्तित्व non-existence
अनुभव, इंद्रियानुभव experience
अनुभव-प्रवाह stream of experience
अनुभूति, मात्रास्पर्श feeling
अव्यवहित immediate
विषयापेक्षा, अभिप्राय intention
अभिप्रायात्मकता, अभिप्रायमूलकता intentionality
अर्थ meaning
अर्थप्रदायक क्रिया meaning-bestowing act
अर्थाभिपूरक क्रिया meaning-fulfilling act
अर्थक्रिया noesis
अर्थक्रियामूलक noetic
अभ्याहरण protention
अ-यथार्थ irreal
अयथार्थ, असत् un-real
अपचय, अपचयन reduction
अवशेष residue
संधारण retention
अहम्मात्रवाद, एकांत आत्मवाद solipsism
अन्वस्तित्व subsistence
अवगमन, अवगम्यता understanding
अंतर्विषयीमूलक intersubjective
अंतर्दृष्टि insight
अंतर्निरीक्षण introspection
अंतर्वोध, अंतर्ज्ञान intuition
अंतर्प्रत्यक्ष inner perception
आभास appearance
आकार, रूप form
आकारिक formal
आंतरिकता, अंतःस्थता immanence
आगमन induction
आकार morphe (form)
आवश्यकता (अपरिहार्यता) अनिवार्यता necessity

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रतिभासमूलक phenomenal
प्रतिभासवाद phenomenalism
आद्य primordial
संवेद्यता, अनुभव-गम्यता sensibility
आशय sense
{आत्म, अनुभव-कर्त्ता subject
{मनस् , विषयी
आत्मनिष्ठ subjective
{आत्मनिष्ठता subjectivity
{विषयिनिष्ठता
विषयिनिष्ठतावाद subjectivism
इंद्रिय-प्रदत्त sense-datum
इंद्रियानुभव sense-experience
इतिहासवाद historicism
इंद्रियानुभूति, संवेद sensation
भव becoming
उपस्थापन, उपस्थापन-क्रिया positing
उपस्थापन, उपस्थापना position
एकता, एकत्व, एकात्मता unity
औचित्य justification
काल time
कालिक, कालगत temporal
गुण, तन्मात्रा sense-quality
घटक-अंश, घटकांश constituent
चेतना consciousness
शुद्ध चेतना pure consciousness
चेतना-क्रिया consciousness-act
{चिंतन, आत्म- meditation
{चिंतन, मनन
जीवंत-जगत् lebenswelt
ठोस वस्तुवाद reism
तात्त्विक अपचय eidetic reduction
तार्किक logical
{तादात्म्य, तादात्म्य- identity
{लक्षण, अभिन्नत्व

द्रव्य substance
देश space
द्वन्द्वात्मक dialectical
दृष्टिकोण, प्रवृत्ति (अभिवृत्ति) attitude
धर्म, स्वभाव essence (eidos)
धर्मता essential (eidetic)
निरपेक्ष, पूर्ण, निरपेक्षतःपूर्ण absolute
निर्दिष्ट चेतना directed consiousness
निगमन deduction
निष्पत्ति derivation
निरूपण, विवरण description
निर्णय judgement
{निरूपणात्मक descriptive psycho-
{मनोविज्ञान logy
नियम, सैद्धांतिक नियम principle
{निरूपणात्मक descriptive-
{प्रतिभासवाद phenomenology
नियामक बुद्धि regulative reason
परामूल्यन trans-valuation
परानुभविक trans-empirical
{परात्मक, अतिक्रामी, transcenden-
{अनुभवातिक्रामी tal
दृष्टिकोण standpoint
प्राण, मन-प्राण, जीव spirit
प्रतिरूपण representation
प्रातिभासिक अपचय phenomeno-logical reduction
प्रयोगात्मक मनोविज्ञान experimental psychology
प्रक्षेप, प्रक्षेपण projection
प्रस्तुति presentation
प्रतिभास phenomenon
{प्रतिभास विज्ञान, phenomenology
{फ़िनामिनालॉजी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष perception
प्रकृतिवाद naturalism
प्रकृति-विज्ञान natural science
प्राकृतिक, स्वाभाविक natural
प्रकृति, स्वभाव, स्वरूप nature
प्रविधि-शास्त्र methodology
प्राविधिक, विधिमूलक methodological
परिपूरक अभिप्राय fulfilling intention
पराभौतिकी, तत्वमीमांसा metaphysics
परिवेश, परिवेश-जगत् environs
प्रत्ययवाद idealism
{प्रत्ययमूलक, अ-वास्तविक, आदर्श, कांक्ष्य} ideal
{प्रत्यय, विचार, अभिधारणा (मूल प्रत्यय)} idea
प्रदत्तक अंतर्दृष्टि dator intuition
प्रदत्तक, प्रदाता dator
प्रदत्त datum (pl. data)
प्रतिचेतना, उन्मुख चेतना consciousness of
पूर्वनिश्चित अनिवार्यता apodeitic necessity
पूर्वनिश्चित apodeitic
प्रतिस्थापना, प्रतिप्रतिज्ञा antithesis
पश्चानुभविक a posteriori
प्रागनुभविक a priori
{फिनामिना-लॉजिकीय अपचय} phenamenological reduction
{फिनामिना-लॉजिकीय स्थगन (निलंबन)} phenomenalogical suspension
बौद्धिक rational
बुद्धिवाद rationalism
बुद्धि reason
भाव being
भावमीमांसा ontology
मिथ्याभास mere appearance
अनुभूति feeling
मानववाद humanism
मनःस्थितियां moods (states of mind)
मूलविश्वास, आद्य-विश्वास protodoxa
मनोविज्ञान psychology
यथार्थ, सत्, सत्ता real
यथार्थता, सत्, सत्ता reality
वास्तविक, यथार्थ actual
विश्वास belief (doxa)
{विधान, रचना, संरचना} constitution
{विश्वासमूलक-तर्कणात्मक सत्य} doxalogical truth
व्याख्यात्मक heuristic
विषय, उपादान hyle
विधि method
विधा mode
वस्त्वर्थ noema
वस्त्वर्थक noematic
वस्तु, पदार्थ, विषय object
{वस्तुनिष्ठ, वस्तुत्वमूलक, विषयपरक} objective
वस्तुनिष्ठता, वस्तुत्व objectivity
{विधानमूलक, प्रतिभासवाद} constitutive phenomenology
व्याख्यात्मक प्रतिभासवाद heuristic phenomenology
वाक्य, कथन, प्रतिज्ञप्ति proposition (sentence)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विधानात्मक बुद्धि constitutive reason
विषय-धारक subject bearer
वस्तु, पदार्थ thing
विश्व दृष्टि weltanschauung
शून्याभिप्राय empty intention
शून्यता nothingness
संत्रास anxiety
स्वैच्छिक, याद्दच्छिक arbitrary
संप्रत्यक्ष apperception
सत्य, निरुपाधिक authentic
संज्ञान cogito (cognition)
संज्ञान-उपादान cogitatum
संवृत (आसक्त) चेतना engaged consciousness
सामान्य-रूप चेतना general consciousness
संश्लेष चेतना synthetic consciousness
संवेग emotion
साक्ष्य, प्रमाण, प्रामाणिकता evidence
स्वतःप्रामाण्य self evidence
स्वतंत्रता freedom
संप्रत्ययन, प्रत्ययीकरण ideation
संभव, संभाव्य possible
संभव, संभाव्यता possibility
स्व-प्रस्तुति, स्वप्रदत्तता self-presentation
संरचना structure
संरचनात्मक एकता structural unity
संहति, तंत्र, प्रणाली, व्यवस्था system
सैद्धांतिक theoretical
सिद्धांतीकरण theorization
सिद्धांत theory
स्थापना, प्रतिज्ञा thesis
सत्य truth
ज्ञानमीमांसा epistemology

▫▫▫

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१३	दो	ये
,,	२७	आपत्स्तिथि	आपत्स्थिति
८	१	सबघ	संबंध
,,	३१	बोद्धात्मक	बोधात्मक
१३	२	हुस्संल	हुस्सर्ल
१६	१५	गहीत	गृहीत
२०	२१	भाव	प्रदत्त-भाव
२१	१६	पूर्वं	पूर्णं
३२	५	चेतन ।	चेतन हूँ ।
४२	२६	अह संदर्भ	अहं-संदर्भ
४८	४	उस	उसके
५९	१५	वहाँ	वहीं
८४	४	दैनिक	दैशिक
८६	१२	Shceler	Scheler
८८	१	पूर्वविकसित	पूर्णविकसित
९०	२१	'दाज्ञे'	'दाजाइन'
९१	१६	भू	भी
,,	,,	स्वत	स्वतः
९५	४	विषयोपेक्षी	विषयापेक्षी
९९	१५	लबेंश्वैत	लेबेंश्वेल्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करने चले थे हम
प्रकृति का बौद्धिकीकरण
और हो गया ----
बुद्धि का प्रकृतिकरण ।

श्री कृष्ण दत्त शर्मा

क्यों हो रहा है
निरन्तर जड़ता में परिगमन
कब होगा इससे
हम सबका अभिनिष्क्रमण ।

आओ आज ही
विद्रोह करें
बुद्धि के जड़वादी साम्राज्य का
स्वागत करें
मानव मनो-जगत
नवजात,
नवनीत ----
आलोकित ~~साम्राज्य~~ राज्य का ।

श्री कृष्ण दत्त शर्मा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमारे दर्श

1. तर्क एवं दर्शन का विवेचन

2. दर्शन के सौ वर्ष

3. संस्कृति मानव कर्तृत्त्व की व्या

4. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक

5. भारतीय दर्शन का इतिहास भा

6. नीति दर्शन की पूर्व-पीठिका

7. प्रयोजनवाद

8. तर्क रेखा

9. प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र

10. ज्ञान-मीमांसा

11. मूल्य-मीमांसा

12. आधुनिक तर्कशास्त्र : एक परिच

13. रस गंगाधर

14. शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण

15 भारतीय दर्शन का इतिहास भा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai